# दर्शन दीप



|| श्री जगन्नाथजी प्रसन्नोस्तु || || श्री रामानन्दाय नमः ||

# श्री जगन्नाथजी मंदिर ट्रस्ट

**महामंडलेश्वर महंत श्री दिलीपदासजी गुरू रामेश्वरदासजी**

श्री जय जगन्नाथजी

महामंडलेश्वर श्री नरसिंहदासजी महाराज

रजी नं. ए 240
अहमदाबाद

जमालपुर दरवाजा बहार,
अहमदाबाद - 380022.
फोन : 079-25324421, 25323221
मोबाईल : 9824036898
Website : jagannathjiahd.org
E-mail : jaganathjha@gmail.com

नई गौशाला
नकलंग महादेव
गाम : पालडी-कांकज,
ता. दस्क्रोइ, जि.-अहमदाबाद
फोन नं. : 9510591721

ता.: 21.07.2021

भारतीय दर्शनशास्त्र हमारी अमूल्य निधि है। इस गंभीर विषय पर भाई श्री हिमांशुराय रावल ने सरल भाषा में प्रस्तुति कर के "दर्शन-दीप" नामक पुस्तक समाज में रखी है। इस कार्य के लिये मैं उन्हें अभिनंदन देता हूं, और यह आशीर्वाद कि इस पुस्तक द्वारा हमारी संस्कृति का गौरव और बढ़े।

दीलीपदासजी
जय जगन्नाथ



# दर्शन दीप

## लेखक:


## हिमांशुराय रावल

## *‘हक़ीर’*


क़ीमत: रु. 300/-


**प्रकाशक:**

**कोरयफ़ी ग्रुप ऑफ मीडिया अँड पब्लिकेशन्स**

सी-307, पुष्प बिज़नेस कैम्पस, वस्त्राल, अहमदाबाद – 382418

editor@koryfigroup.org

# प्राक्कथन



सृष्टि काल से ही संस्कृत भाषा, जनभाषा – बोल-चाल की भाषा थी। इसका प्रमाण है कि प्राचीन उपनिषदों के ग्रंथ, संस्कृत में  लिखे गए हैं। वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण की रचना संस्कृत भाषा में ही की है, व्यास जी ने भी महाभारत की रचना संस्कृत ही में की है। अन्य भाषाओं का इतिहास इतना प्राचीन नहीं है, जितना संस्कृत भाषा का इतिहास। जितने भी प्राचीन ग्रंथ हैं, चाहे धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, दार्शनिक, या आयुर्वेद की पुस्तकें हों, सभी संस्कृत में ही मिलती हैं। हमारा सब का अनुभव है कि जो लोकभाषा होती है उसी भाषा में साहित्य की रचना होती है। कुछ कालांतर में, संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद - पद्धति से पठन – पाठन होने लगा, अनूदित पुस्तकें पढ़ने से कृत्रिमता आती है, साथ में ग्रंथ का रहस्य प्रकट नहीं हो पाता। कुछ काल में कठिन शब्दावली का प्रयोग ही पांडित्य माना जाने लगा! राजा शास्त्रार्थ कराकर, विजेता पंडितों को सन्मान देते थे। विजेता पंडित दूसरों को पराजित करने के लिए, भाषा और विषयों को कठिनतम बनाते थे। साथ में इस्लाम और क्रिश्चियन मतों का प्रभाव अधिक पड़ा, अंग्रेज़ी का प्रभाव बढ़ा, संस्कृत पढ़ने वाले अपने को हीन मानने लगे। उपर्युक्त अनेक कारणों से संस्कृत के प्रति सामान्य मनुष्यों की रुचि कम होने लगी। जो शास्त्र मानव जीवन के व्यवहार के साथ जुड़े हुए थे, पुस्तकालय तक ही सीमित होकर रह गए। "शासनात संशनात शास्त्रम"। शास्त्र शब्द के दो अर्थ हैं, पहला अर्थ है कथन अर्थात उपदेश, और दूसरा अर्थ है शासन यानी विधिनिषेध। गीता में लिखा है कौन सा कार्य करना चाहिए और कौन सा कार्य नहीं करना चाहिए, इसके लिए शास्त्र ही प्रमाण माना जाता है। शास्त्र को आप्त - वचन अथवा शब्द-प्रमाण माना गया है। अन्य सभी प्रमाण मिथ्या हो सकते हैं, शब्द प्रमाण कभी मिथ्या नहीं हो सकता।

मानव जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए संविधान रूप दर्शन शास्त्र लिखे गए हैं। किन्तु वर्त्तमानकाल में उन शास्त्रों को पढ़ने – पढ़ाने में, समझने – समझाने में रुचि नहीं दिखती। अत:

इन शास्त्रों में श्रद्धा विश्वास नहीं रहता। ऋषि मुनियों ने तपस्या कर के अपने जीवन को प्रयोगशाला बनाकर स्वानुभव के आधार पर दर्शनशास्त्रों को लिखा, लेकिन ऐसे अमूल्य रत्न निरूपयोगी लगने लगे!

उपर्युक्त परिस्थितियों को देखते हुए, माननीय श्री हिमांशुराय रावल ने अथाक प्रयत्न कर के सरल भाषा में वर्त्तमान परिस्थिति के अनुसार दर्शन शास्त्र कैसे उपयोग में आ सके, उस प्रकार दर्शनों की परिभाषा 'दर्शन दीप' में दी है, जिससे सामान्य मनुष्य को भी लाभ होगा। मैं हिमांशुराय को धन्यवाद देता हूँ कि आपने सरल भाषा में दर्शन के सिद्धांतों को मानव – जीवन के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। आशा है कि हिमांशुराय के द्वारा संकलित, इस पुस्तक के मौलिक लेखों को पढ़ कर लाखों लोग लाभान्वित होंगे। आपकी लेखनी ऐसे अनेक लेखों को लिखने में सफल हो, इस पुस्तक की सफलता के साथ, आप की ऐसे कार्य में प्रगति हो ऐसी शुभकामना।



**डॉ कृष्ण प्रसाद निरौला**

**व्याकरणाचार्य, MA, Ph.D**

**नडियाद**

**18 जुलाई, 2021.**

# अनुक्रम

## दर्शन स्वरूप

दर्शन हमारे जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ तत्त्व है, "दृष्यते अनेन इति दर्शनम" जिसके द्वारा देखा जाए वह साधन दर्शन कहलाता है। क्या देखना है?

बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है "आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो गंतव्यो निदिध्यासितव्य:" यह महर्षि याज्ञवल्क्य का उपदेश है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार अथवा आत्मानुभव है, उस अनुभव के लिए, उपनिषदों में इन साधनों का उपदेश मिलता है – श्रवण, मनन, निदिध्यासन। भारतीय दर्शन के अनुसार, वेद स्वत: प्रमाण हैं; सत्तत्त्व को प्रकाशित करने के लिए, वेद अधिक प्रमाणभूत है। आत्मानुभव के लिए दूसरा साधन मनन है, जो युक्तियों के सहारे किया जाता है। यद्यपि वेद का सिद्धान्त सर्वमान्य है, तो भी मनन की आवश्यकता होती है। मनन का अर्थ है चिंतन, विचार, तर्क। बिना तर्क, वस्तु के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं हो पाता। मनन रूप साधन दर्शनों का मूल तत्त्व है। दर्शनकारों ने इस लक्ष्य को लेकर स्वमतानुसार स्वप्रमाण से विवेचन किया है। उस विवेचन को हम दर्शन शास्त्र के रूप में देखते हैं। निदिध्यासन अर्थात ध्यान, योग दर्शन में इसका प्रधान रूप से विवेचन हुआ है। भर्तृहरि ने ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए स्वानुभूति ही एक प्रमाण माना है। निरंतर चिंतन ही तो निदिध्यासन है जो आत्मसाक्षात्कार का अंतिम साधन सिद्ध होता है। आत्म साक्षात्कार से मोक्ष मिलता है, ये दर्शनों का कहना है। कोई दर्शन जीवित अवस्था में ही मोक्ष प्राप्ति की बात करता है, तो कोई मृत्यु के बाद। कोई दर्शन मृत्यु को मानता है, कोई नहीं मानता। इस प्रकार दर्शनों में भेद देखे जाते हैं। भारतीय दर्शनों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, इन त्रिविध दुखों का पूर्णतया नाश, और परम सुख अर्थात अखंड आनंद की प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है। मोक्ष पाने के लिए वेद अनेक उपाय बताते हैं। तार्किक दृष्टि से भी दर्शनों में मोक्ष का विवेचन हुआ है। बौद्ध दर्शन में चार आर्य सत्य के ज्ञान को मोक्ष का साधन कहा गया है। न्याय

दर्शन में पदार्थों के साक्षात्कार से मोक्ष कहा गया है। सांख्य दर्शन में 24 तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। सभी दर्शन मोक्ष की चर्चा करते ही हैं। चार्वाक दर्शन में भी देह के नाश को मोक्ष माना गया है। पाश्चात्य दर्शन मोक्ष के प्रश्न पर मौन ही रहा है! अन्य विषय पर मत-भेद होते हुए भी, मूल तत्त्व के साक्षात्कार से मोक्ष की प्राप्ति होती है इस विषय पर सभी एकमत है। साक्षात्कार कैसे हो इसके लिए प्रमाणों का साधन बताया है।"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि " प्रमेय पदार्थ की सिद्धि प्रमाण से ही हो सकती है इसीलिए दर्शन शास्त्र में प्रमाणों का अधिक महत्व है।

## भारतीय दर्शन की विशेषता

भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है व्यावहारिक पक्ष। त्रिविध दुखों से पीड़ित प्राणियों को मुक्ति प्रदान करना ही दर्शन का लक्ष्य है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र - रोग, रोगनिदान, आरोग्य और भैषज्य - इन चार तथ्यों के यथार्थ निरूपण में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार, दर्शन शास्त्र दुख, दुखहेतु, मोक्ष, मोक्षोपाय, इस सिद्धान्त चतुष्टय को यथा शक्ति निरूपण करता है। सांख्यशास्त्र की प्रथम कारिका में दुखत्रय के विनाश हेतु 25 तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक बताया है। भारतीय दर्शन के प्रणेता आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप, चार पुरुषार्थ की सिद्धि को मानव जीवन का लक्ष्य रखा है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए शुभकर्म, तप, त्याग आदि अष्टांग योग का विधान है – जो योग दर्शन में दिया है।

सिद्धान्त और व्यवहार दोनों का समन्वय भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता है। भारतीय दर्शन निराशावादी है यह पाश्चात्यों का विचार सर्वथा असंगत है, क्योंकि गौतम बुद्ध ने जगत से विरक्त होते हुए भी, जगत के कल्याण के लिए प्रयत्न किया। वेद में "पश्येम शरदः शतं। जीवेम शरदः शतं। " इस प्रकार 100 वर्ष के जीवन की कामना की है। "आशा हि परमंज्योतिः नैराश्यम परमं तमः" अर्थात आशा एक

परम ज्योति है और निराशा गहरा अज्ञान है। ऐसी घोषणा करने वाली सूक्ति जिन दर्शनों में हो, वे निराशावादी कैसे हो सकते हैं!

भारतीय दर्शन का उद्देश्य है सर्वसमावेश, सर्वसमन्वय। भारतीय दर्शन का सार निम्नलिखित श्लोक में प्रस्तुत होता है।

यं शैवा: समुपासते शिव इति, ब्रहमेति वेदांतिनो,<br>
बौधा बुद्ध इति प्रमाणपटव: कर्तेति नैयायिका: ।<br>
अर्हन इत्यर्थ जैन शासनरता: कर्मेति मीमांसका:<br>
सोऽयं नो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि: ।

इस ब्रहमतत्त्व को शैव, शिवरूप में; वेदांती, ब्रह्म रूप में; बौद्ध, बुद्ध के रूप में; प्रमाण देने में चतुर नैयायिक, उस ब्रह्म को कर्ता के रूप में; और जैन, उस ब्रह्म की अर्हत के रूप में उपासना करते हैं। मीमांसक ब्रह्म को कर्म के रूप में मानते हैं। किसी भी रूप में हो, वह तीन लोक का नाथ - ब्रह्म, एक ही है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि वह ब्रह्म सब को मनोवांछित फल प्रदान करे।

इस प्रकार दर्शन शास्त्र में विविधता में एकता का दर्शन, इस शास्त्र का परम उद्देश्य रहा है। ऐसा दर्शन शास्त्र, जीवन दर्शन के रूप में मानव जीवन को कैसे उपयोगी हो सकता है इस दृष्टिकोण से माननीय हिमांशुराय ने दर्शनों का मननीय विवेचन किया है, जो प्रशंसनीय है और उपादेय भी है। उनका ये प्रयत्न सफल हो इसी कामना के साथ विराम लेता हूँ।

**- डॉ कृष्ण प्रसाद निरौला**

**18 जुलाई, 2021**

## आमुख

भारतीय सभ्यता सर्वाधिक पुरानी है, और वहाँ जिन विषयों पर साहित्य और चर्चा के प्रमाण मिलते हैं, उससे पता चलता है कि उस समय समाज अत्यधिक सुखी, सम्पन्न और आज ही की तरह सहिष्णु होगा; अन्यथा इतनी विरोधाभासी विचारधाराएँ सदियों तक एक साथ चल नहीं सकतीं। रिलीजियन शब्द का मूल शब्द है लीजियन - जिसका अर्थ है डोरी या रस्सी या सूत्र, जिससे बांधा जा सके! यूं रिलीजियन के इस अर्थ में बाइबल या तोरा या कुरान द्वारा, जो अब्राहमिक पंथ माने जाते हैं, किसी समूह को एक ही प्रकार के नियमों में बांधा जाता है! इसके विरुद्ध, भारत में किसी भी विचारधारा पर अनंत संवाद को मान्यता दी जाती रही है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं निर्णय करता है कि वह किसे पूजे, कैसे पूजे; या पूजे ही नहीं!

डॉ. निलेश ओक ने अभी कुछ वर्षों पहले अपने लेखों, वक्तव्यों और वैज्ञानिक प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि भारत के आर्य यहीं के थे, कहीं से आए नहीं थे; सरस्वती नदी तब पूर्व की ओर बहती थी जिसके किनारे, रामायण और महाभारत के प्रसंगों का उल्लेख मिलता है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि इन पुस्तकों में दिये गए प्रसंग काल्पनिक न होकर ऐतिहासिक हैं।

आज भी भारतीय पुरोहित सदियों पुरानी परंपरा के अनुसार जब भी पूजा का संकल्प कराते हैं तो "भरतखंडे, जंबू द्वीपे, बौद्धावतारे, अमुक संवत्सरे, अमुक ऋतौ, अमुक मासे,अमुक वासरे, अमुक तिथौ...... "

बोलते हैं जो कि दैनंदिन ग्रहों और ऋतुओं के सटीक ज्ञान का प्रमाण है। इसी परिपाटी के कारण आज यह सिद्ध करना डॉ.ओक के लिए संभव हो सका है कि रामायण समय का युद्ध ईसा से कितने वर्ष पहले हुआ! तिथि आदि का ऐसा दैनंदिन ज्ञान मुस्लिम, ईसाई या यहूदी पुरोहितों में नहीं देखा जाता। डॉ. ओक ने पश्चिमी देश में बने सॉफ्टवेर को चलाकर रामायण और महाभारत के क्रमश: लगभग 600 और 300 श्लोकों से तत्कालीन ग्रहों (विशेषकर अरुंधति, वसिष्ठ, और ध्रुव तारे) की स्थिति के सत्यापन से उन घटनाओं को ऐतिहासिक सिद्ध कर दिया है: रामायण और महाभारत के युद्ध क्रमश: 12209 और 5561 ईसा पूर्व के वर्ष में हुए थे! इस तरह अपने गुलाम देश, भारत का अंग्रेजों द्वारा लिखा गया पूरा इतिहास असत्य साबित हो गया है। इनके अलावा सुग्रीव ने स्वयं पृथ्वी पर देखे स्थानों का जो वर्णन रामायण में किया है उस से भूगोल और पूरे विश्व के विभिन्न देशों और स्थानों का भारत में सांगोपांग ज्ञान भी सिद्ध हो जाता है। यह भी प्रमाणित हो गया है कि सरस्वती नदी महाभारत के कुछ वर्ष बाद रोपर या रूपनगर (हरियाणा) में लुप्त होने से पहले कुछ वर्ष पश्चिम में बही थी, और इसी समय, किन्हीं कारणों से समुद्र की सतह बहुत बढ़ी थी जिस के कारण द्वारिका डूब गई थी। यूं भारतीय संस्कृति कम से कम 25000 वर्ष पुरानी साबित होती है। इसके अतिरिक्त, भारतीय विज्ञान और संस्कृति जानने के लिए चित्रात्मक शैली का ज्ञान भी आवश्यक है जैसे कि सूर्य के रथ के सात घोड़े दिखाना कला के साथ - साथ विज्ञान का भी प्रमाण है। वामपंथी इतिहासकारों ने भारत को अनपढ़ दिखाने का प्रयास किया ये तथ्य अब

खुल चुका है! यहाँ इस विषय पर भी देखना ठीक होगा कि विशेषकर बौद्ध धर्म को राजधर्म घोषित करने के बाद, संस्कृत जानने वाला और पौरोहित्य के व्यवसाय में रहा वर्ग कम होता गया है, जो वैसे भी बहुमत में नहीं था। उन्हें समस्त समाज के लिए दोषी ठहराने से पहले क्या हमें तत्कालीन राजाओं के शासन और प्रशासन में रही कमियों पर भी नहीं सोचना चाहिए? क्या भगवान महावीर और बुद्ध के द्वारा देखे और झेले गए दुख किसी पुरोहित वर्ग के कारण थे? यह प्रश्न आज भी शोचनीय है।

समय आ गया है कि हम अपने दर्शनों में निहित तथ्यों से विश्व को लाभान्वित करें। इतिहास को ऐसे भी देखा जा रहा है कि भारत की तत्कालीन पश्चिमी सीमा पर भी यह ज्ञान था जो ईसा की पहली सदी में ग्रीस देश और पंद्रहवीं सदी के आसपास मुस्लिमों में भी पहुंचा था; जो क्रमश: लेटिन और अरबी भाषाओं में अनुदित हुआ था। यह साहित्य जब ग्रीस पहुंचा तब वहाँ ओल्ड टेस्टामेंट के तहत राज होता था - जो विज्ञान को कोई महत्व नहीं देता था। पंद्रहवीं शताब्दी में मुस्लिमों के संपर्क में आ रहे यूरोप के विद्वानों में भी यह ज्ञान पहुंचा लेकिन वहाँ पोप का ये आदेश था कि मुस्लिम सभ्यता से संपर्क रखने वालों का वध किया जाए। यह बात याद रहे कि 300 से 1500 ईसा के समय को यूरोप में डार्क एरा (अंधकार का युग) कहते हैं। पोप के हाथों वध न हो इस डर से यूरोप के विद्वानों ने सूर्य सिद्धान्त जैसे भारतीय शास्त्रों को अपने नाम से अंग्रेज़ी भाषा में प्रचारित किया, और  मौलिक अनुसंधान भी आरंभ कर दिया। इस तरह यह तथ्य छुप गया कि ये ज्ञान मूल संस्कृत

ग्रन्थों के अरबी – फारसी भाषांतर से संभव हुआ था। एक ओर इस दुष्प्रचार में प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार का बहुत योगदान रहा, तो दूसरी ओर मुस्लिम शासकों की नीति के कारण अनुसंधान के अवसर भारतीय विद्वानों को न मिल सके। यूं कुल ऐसी तस्वीर उभरती है कि आज का सारा विज्ञान पश्चिमी विद्वानों का मूल शोध था, और भारतीय लोग जन्मजात गंवार थे!

एक बात और देखने योग्य है कि जहां डार्विन का उत्क्रांतिवाद आज के मानव पर स्थिर हो जाता है, आगे की कल्पना तक नहीं कर पाता; वहीं भारत में "मत्स्य कूर्म वाराह नृसिंह वामन" से लेकर कल्कि अवतार तक की परिकल्पना पूरे आत्मविश्वास से की गई है। कल्कि आज के मानव के बाद, आने वाले कल के मनुष्य या अतिमानव की परिकल्पना नहीं तो क्या है? ये भारतीय दार्शनिकों की दूरदृष्टि और ज्ञान का प्रमाण ही तो है!

अपने क्लिष्ट व्याकरण, पाली, प्राकृत, मागधी जैसी प्रांतीय भाषाओं के बढ़ते प्रभाव, मुस्लिम और अंग्रेज़ी शासन में राजनीतिक पक्षपात जैसे कारणों से संस्कृत भाषा, और उसके ज्ञाताओं की छवि को द्वितीय दर्जे का बनाकर प्रस्तुत किया गया। वैदिक साहित्य बहुमूल्य होकर भी इस पार्श्वभूमि में दब-दब गया! आज परिस्थिति कुछ ऐसी है कि एक सामान्य भारतीय नागरिक इन दर्शनों से दूर ही रहा है। मुझे लगता है कि ब्रह्म या पृथ्वी, या मानव या प्राणी या पेड़ या किसी भी ऐसे विषय की उत्पत्ति, स्थिति और विलय पर सोचना सामान्य मनुष्य का विषय कभी

नहीं हो सकता! इसके लिए बहुत ही शांत और संतुष्ट मन, और अनुकूल पारिवारिक तथा सामाजिक परिवेश चाहिए, इतना होने पर भी क्या पता कि गहराई में उतरने की संभावना बने, न बने। उथले ज्ञान और आंशिक अनुमान के आधार पर कोई इन दर्शनों का ज्ञाता हो जाए यह संभव नहीं है।

मेरे आगे सवाल है कि इस बहुमूल्य निधि के गुणगान का प्रयास करूँ तो कैसे करूँ! इस विषय पर उपलब्ध साहित्य और टीकाएँ इतनी क्लिष्ट और अपर्याप्त हैं कि केवल पढ़ाने से उपयोगी सिद्ध न होगी। इस क्षेत्र में कोई न कोई शुरुआत कहीं न कहीं से करना अनिवार्य है। प्रश्न है कि वह शुरुआत क्या हो, और कैसे हो, और यह कि क्या ये काम बिना गुरु के भी संभव है! फिर हमारे यहाँ गुरु शब्द का अर्थ ठीक-ठीक शिक्षक या प्रोफेसर तो होता नहीं; गुरु का सही अर्थ है कि जो दीक्षा के माध्यम से ज्ञान दे। देखें तो दीक्षा भी कई प्रकार की होती हैं; और प्रत्येक में कुछ ऐसी घटना होती है कि शिष्य एक स्वतंत्र दीपक बन जाता है! इस के उदाहरण समाज में यूं तो कई हैं पर ज्वलंत उदाहरण है स्वामी विवेकानंद का, जिन को उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस ने दीक्षित किया था। यह परंपरा भारत की एक रहस्यमयी विधि है - जो सत्य तो है पर शब्दातीत है। अत: प्रश्न रह ही जाता है कि जिज्ञासु करे भी तो क्या!

इन दर्शनों को बार–बार पढ़ लेने पर भी किसी अनुभव की संभावना बन ही नहीं सकती, इन में समाहित बोध, पढ़ने से अनुभाव्य नहीं है। मेरी अपनी समझ में, इन्हें अनुभव करने का एक मात्र रास्ता योग मार्ग से

जाता है! मैं यहाँ भस्त्रिका प्राणायाम का उल्लेख करना चाहता हूँ, जो कोई ऐसी खिड़की खोल देता है कि इन दर्शनों में समाई क्लिष्टता सहसा समाप्त हो सकती है, और इन्हें समझना अपेक्षाकृत सरल हो जाता है। वैसे तो जीवन में वैसा क्षण आ जाने के बाद, किसी दर्शन को समझने की आवश्यकता ही नहीं रहती; फिर भी, इस क्रम में ये लेख काम आएंगे। एक बहुत ही हल्की - सी झलक पश्चिमी फ़लसफे की भी देख लेना ठीक रहेगा, ताकि हमारा आत्मविश्वास और सुदृढ़ हो।

पिताजी का स्वभाव था कि विद्वानों को घर निमंत्रित करके उनका स्वागत करना और उन्हें आदर के साथ सुनना। उन महापुरुषों की बातें यहाँ झलकती है। दीक्षा गुरुओं का उपकार अनंत है और उऋण नहीं हुआ जा सकता। दंडी स्वामी श्री 1008 जगन्नाथ तीर्थ (शंकराचार्य, द्वारिकापुरी), दंडी स्वामी श्री अभेदानंद सरस्वती, दंडी स्वामी श्री दत्तयोगेश्वर तीर्थ, श्रीमन्नथुराम शर्मा, स्वामी श्री विवेकानंद, श्री विजय राणे, प्रभृति विद्वानों से प्रत्यक्ष तथा उनके लेखों से बहुत कुछ जाना है। इन सबका मैं ऋणी हूँ।

समादरणीय विद्वान श्री डॉ. कृष्णप्रसाद निरौला जी के प्राक्कथन, और पूज्यचरण महंत श्री दिलीपदास जी के आशीर्वचन द्वारा अभिषिक्त हुआ हूँ, कृतज्ञ हूँ, नि:शब्द हूँ।

इस कार्य में मेरा हौसला बढ़ाने के लिए मैं अपने मित्र सर्वश्री पद्मनाभ पांडे, ओम प्रकाश पांडे, डॉ सुनील पांडे, श्री धर्मेंद्र पण्ड्या ‘सुदामा’ और सुश्री शिखा शर्मा का आभारी हूँ। नौजवान विद्वान पं. रसेश जोशी,

युवा चित्रकार राहुल चक्रवर्ती (मुखपृष्ठ के लिए), ऋषि दवे, हेम व्यास और पुनीत आचार्य (कंप्यूटर सेटिंग और छपाई मेँ मेरा सहकार करने के लिए ) का भी आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं यह मानता हूँ कि यह कार्य, बिना गुरुगण की अनुकंपा के सार्थक न हो सकेगा, अत: मैं अपने दीक्षा गुरु **श्री रमणीकलाल दवे** और **श्री महेंद्र रावल** के श्री-चरणों में अपना शीश रखता हूँ, और **इस पुस्तक को इन दोनों महानुभावों को समर्पित करता हूँ।**



**हिमांशुराय रावल**
बी 1001, सत्यमेव विस्ता, गोता, अहमदाबाद 382481.
himanshurayraval@gmail.com
फोन नंबर: 9429202015
24 जुलाई 2021. गुरुपूर्णिमा।

## चार्वाक दर्शन/ लोकायत दर्शन

इससे पहले कि हम सुगठित दर्शनों की बात करें, अच्छा होगा अगर हम भारत में आदि युग से चली आ रही वैचारिक स्वतन्त्रता पर एक दृष्टि डाल लें। चार्वाक या चारु-वाक मत के प्रमाण उतने ही पुराने हैं कि जितने अन्य दर्शनों के। भारत में आस्तिक और नास्तिक (वेद विरोधी) विचारधाराएँ बिना संघर्ष के साथ - साथ प्रवाहित होती रही हैं। ऋषि याज्ञवल्क्य ने परिभाषा दी है कि नास्तिक वह है जो वेद, मोक्ष और ईश्वर को न माने। इन तीनों में से ईश्वर को न मानने वाले को भारत में कभी कोई अपराधी नहीं माना गया, जैसे जैन और बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते; कोई बात नहीं। आस्तिक दर्शनों में भी सांख्य ईश्वर को आवश्यक नहीं मानता। यूं चार्वाकों को छोड़ के प्राय: सभी पुनर्जन्म और निर्वाण को तो मानते ही हैं। चार्वाक कहते हैं कि आकाश तत्त्व सिद्ध ही नहीं होता क्योंकि उसे इंद्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता! वे यह भी पूछ लेते हैं कि वेद को प्रमाण किस आधार पर मान लिया जाए, केवल इसलिए कि इससे कुछ लोगों का पेट भरता है? चार्वाकों का प्रसिद्ध श्लोक है:-

यावज्जीवेत सुखं जीवेत, ऋणम कृत्वा घृतम पिबेत

भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनम कुत:

रामायण समय में ऋषि जाबाल, महाभारत समय में ऋषि बृहस्पति इसी विचारधारा के थे, फिर भी उन्हें ऋषि कहा जाता है। यह ध्यान रखना होगा कि आचार्य चाणक्य ने बृहस्पति को ही आदर्श माना है। चाणक्य ने कोई 2000 वर्ष पहले कहा है "राज्ञे नम:" और आज जर्मनी के हेगल भी कहते हैं कि "God marching on the Earth is State"। इस अर्थ में चार्वाक पूरे समुदाय के उत्थान की दृष्टि से बात करते हैं। चार्वाक दर्शन अपने - आप में परोक्ष रूप से राजा या राज्य से सम्बोधन लगता है।

चार्वाक के पक्षधर, चार पुरुषार्थ में से केवल दो को ही मानते है : अर्थ और काम। धर्म और मोक्ष को वे अनावश्यक मानते हैं। चार्वाक कहते हैं कि जीवन तो गोबर से भी उत्पन्न हो जाता है, हो सकता है कि मानवों की उत्पत्ति भी ऐसे ही किसी पदार्थ से हुई हो – क्या आवश्यक है कि सृष्टि के सृजक के बारे में इतना सोचा जाए?

ऐसे 'अर्थ' की बात करते हैं कि जहां अनर्थ न हो – और लगता है कि ये इशारा उस प्रदेश के राजा की ओर है। और 'काम' (इच्छा) ऐसा हो जो किसी के भी विरोध में न हो, जैसे कि पशुबलि। राजा ऐसे सुख की व्यवस्था करे। चार्वाकों का यह कहना कि "यावत जीवेत, सुखम जीवेत" व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत है। किसी का आज का व्यक्तिगत दुख, कल पूरे देश का दुख बन सकता है इसलिए व्यक्ति और राजा दोनों को सुख की व्यवस्था करनी चाहिए। "यावत जीवेत" से चार्वाक कहना चाहते हैं कि श्राद्ध, मोक्ष आदि सुनी - सुनाई बातों पर ध्यान न दिया जाए! बलि देनी ही है तो पहले उन अग्रगण्य लोगों की दो जिनको स्वर्ग या मोक्ष की कामना है! वे कहते हैं कि श्वास जाने के बाद क्या होता है ये किसने देखा है! मृत्यु को ही मोक्ष मान लेने में क्या बुराई है? इन सब पर ध्यान देने से अच्छा है कि जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया जाए। प्रजा अच्छे कामों में व्यस्त हो यह (राजा को भी) देखना चाहिए – व्यवस्था ही ऐसी हो कि किसी गतिविधि से कोई व्यक्तिगत या समष्टिगत दुख उत्पन्न ही न हो। खेती, व्यापार, कारीगरी, नौकरी, हर तरफ समृद्धि हो, यही "सुखं जीवेत" का अर्थ है। चार्वाक मत में Distributive Justice की बात है। जब वो कहते हैं कि "ऋणम कृत्वा घृतम पीबेत" तब अर्थ यह है कि ऋण से ऐसे कार्य करें कि समृद्धि बढ़े। यदि चार्वाक दुराचारी होते तो घृत न कहकर मदिरा पीने की सलाह देते! हमें याद है कि स्वतन्त्रता के बाद जर्मनी ने ऋण के माध्यम से ही अपने अर्थतन्त्र को पुनर्जीवित किया था!

चार्वाक आत्मा को नकारते हुए कहते हैं कि 'जो कुछ है, वो यह शरीर है; जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु का बना है।' चार्वाक उसके जीवित होने के कारण पर मौन हो जाते हैं - क्यूँकि इन चार जड़ पदार्थों का चलाने वाला कौन है इस पर वो नहीं सोचते! चार्वाक इसका भी उत्तर नहीं देते कि "मैं आया" कहते समय किसके आने की बात हो रही है।

यह एक ऐसा दर्शन है जो आलसी और दुराचारी लोगों के हाथ आने पर उनके अनुकूल अर्थ प्रकट करता है, इसलिए इसे लोकायत दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन के पक्ष में देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने अपने ग्रंथ में लोकायत दर्शन में स्वतंत्र रूप से विस्तार से लिखा है, लेकिन लेख का उद्देश्य, सप्रयास कटाक्ष करना हो ऐसा प्रतीत होता है।

## वैदिक दर्शन

चार मंत्र-संहिताओं को वेद कहा जाता है। वैदिक साहित्य में उपनिषद और ब्राह्मण ग्रन्थों का भी समावेश होता है। ये चार वेद अपौरुषेय माने गए हैं क्योंकि इनके प्राकट्य का समय निर्धारित नहीं। प्राय: सभी विद्वान इन सूत्रों को ध्रुव सत्य मानते आए हैं। ब्रह्मांड के नियमित धर्म के बारे में जो विधान इनमें हैं, उसे ऋत कहा जाता है, हमारी पृथ्वी के संदर्भ में उसी नियमितता को धर्म कहा जाता है, क्योंकि ग्रहों के आवर्तन से ऋतु, खेती, वर्षा आदि देखे – समझे जाते हैं। वेद को श्रुति भी कहते हैं क्योंकि ये मुखानुमुख या श्रवण परंपरा से चलते हैं।

वेद में एकेश्वरवाद है और जहां-जहां भी किसी देवता का उल्लेख आया है, उन्हें कार्य विशेष का कर्ता मानकर धन्यवाद के भाव से उल्लिखित किया गया है। इस कारण से यह भ्रांति होती है कि वे शब्द ईश्वर के पर्याय के रूप में थे (महादेवानाम सुरत्वम एकम):यथा मित्र और सूर्य।

महर्षि यास्क (700 बीसी) कहते हैं कि इन वेदों के रचयिता अनेक ऋषि थे। वेद में दृश्य जगत के कारण को प्रकृति गया है, जो नाना रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है; और इसके रूप अपने आप परिवर्तित होते रहते हैं। ऋषियों ने साधना, चिंतन और योग से पाया कि इन रूपों के सुख - दुख का एक भोक्ता भी है जो इन रूपों से भिन्न है! अत: उसे परमात्मा की इच्छा शक्ति से बना अंश माना गया है जो कर्मों के कारण शरीर बदलता है! वेद यह भी मानते हैं कि जीव के धर्मानुसार वर्तन से उसे ज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रकृति का यह अर्थ सर्वसमावेशी है कि उसे किसी कृति से भी 'पहले' बनाया गया है या जिसे किसी कृति की परिकल्पना के संदर्भ में बनाया गया है। इसीलिए इसे सर्वगर्भा भी कहा जाता है। यह कहना ग़लत नहीं कि प्राय: दर्शनों में प्रकृति शब्द का यही (प्र+कृति) अर्थ लिया गया है।

वेद में कई देवताओं का उल्लेख है यथा: इन्द्र, मित्र, वरुण, रुद्र, सूर्य चन्द्र, और उनके प्रति सम्मान के लिए विशेष हवि देकर यज्ञ या हवन का विधान भी है लेकिन उन्हें ईश्वर नहीं माना गया: वे सब ऋत के अंतर्गत वर्षा आदि के कारक मात्र हैं! इस विचार में विकृति आने से पशुबलि का आरंभ हुआ जिसने वैदिक संस्कृति को बहुत लांछन लगाए हालांकि प्राय: सभी पुरोहित शाकाहारी थे और हैं!

वेद ईश्वर और जीव को अनादि और प्रकृति को अनित्य मानते हैं।

## न्याय दर्शन

इस दर्शन में प्रत्येक तथ्य को तर्क की दृष्टि से देखा गया है। न्याय का अर्थ किया गया है कि जिस के आधार पर कोई निश्चय किया जाए: न्याय के पाँच अंग हैं:

प्रतिज्ञा : वहाँ अग्नि है

हेतु : क्योंकि वहाँ धुआँ है

उदाहरण : ऐसा रसोईघर में होता है

उपनय : जो दृश्य अभी दिखाई दे रहा है वह ऐसा ही होता है

निगमन : इसलिए वहाँ इस समय अग्नि है।

न्याय दर्शन की दो प्रमुख शाखाएँ हैं: प्राचीन (पदार्थ) न्याय और नव्य न्याय

## प्राचीन (पदार्थ) न्याय

न्याय के प्रमुख आचार्य है महर्षि गौतम (600 बीसी), कुछ का मत है कि उनका नाम अश्वपाद था; उदयन, जयंत आदि अन्य आचार्य माने जाते हैं।

गौतम ऋषि ने 5 अध्यायों में न्यायसूत्र लिखे, प्रत्येक में 2 – 2 आह्निक (खंड) हैं। यहाँ मोक्ष को नि:श्रेयस की प्राप्ति के लिए 16 पदार्थ (पथ) कहे गए हैं।

यहाँ कुछेक परिभाषाएँ ध्यानाकर्षक हैं:-

"यदर्थ विज्ञानं सा प्रमा" अर्थात प्रमा वह ज्ञान है जो वस्तु का सत्य ज्ञान हो, इस प्रमा के चार भेद हैं प्रमाण, अनुमान, आप्त और उपमान। जो ज्ञान स्वाद, स्पर्श, गंध आदि इंद्रियों के साथ मन का संपर्क होने पर हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। ये स्वानुभव से होता है। अन्य प्रमाणों पर आगे चर्चा करते रहेंगे। हम आगे प्रत्येक अध्याय में

देखेंगे कि विभिन्न दार्शनिकों में प्रमाणों पर विचार तो भिन्न हैं, लेकिन सभी ने प्रमाण देना आवश्यक माना है - ताकि साधक/ पाठक को यह विश्वास हो कि इन दर्शनों की प्रस्तुति से पहले उन तथ्यों को किस तरह परखा गया है। इस तरह प्रमाण दे–दे कर समझाना भारतीय दर्शन की विश्वसनीयता और पारदर्शिता का द्योतक है।

आप्तवचन : सभी नैयायिक वेद के शब्द को प्रमाण मानते हैं: गौतम कहते हैं "आप्तोपदेश: शब्द:", अर्थात वेद के वचन पारलौकिक होने के कारण (शब्द) प्रमाण हैं। नैयायिक मानते हैं कि वेद के वाक्य ज्ञानमना ऋषियों ने ईश्वर के साक्षात्कार के लिए लिखे हैं।

गौतम ऋषि कहते हैं कि जिस वस्तु या तथ्य को प्रमाणों द्वारा जाना जाता है उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेय की संख्या 12 है : आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुख और अपवर्ग।

आत्मा : "मैं हूँ" इस वाक्य से आत्मा प्रमेय/ सिद्ध होता है

शरीर : योनिज और अयोनिज शरीर, दृष्टि आदि से प्रमेय है

इंद्रिय : कर्म करने का यह साधन सहज ही अनुभाव्य है

अर्थ : स्वाद, शब्द आदि का बोध होना ही अर्थ है

बुद्धि : बुद्धि आत्मा का गुण है, जीव को भिन्नता देती है

मन : यह भी स्वयंसिद्ध है

प्रवृत्ति : यह आत्मा और बुद्धि की संकल्प शक्ति है

दोष : लालच – लोभ आदि का भान भी स्वयंसिद्ध है

प्रेत्यभाव : स्मृति के आधार पर पुनर्जन्म भी सिद्ध होता है

फल : कर्म से सुख/ आनंद उठाना भी स्वयंसिद्ध है

दुख : कर्म से नुकसान उठाना

अपवर्ग : दुख का नितांत अभाव, नि:श्रेयस की प्राप्ति जो ध्यान, उपदेश, समाधि, मनन, चिंतन से प्राप्त होता है।

कुछेक बातों पर न्याय शास्त्र अपनी विशेष परिभाषा देता है:-

सिद्धान्त : जिसके बाद विवाद न हो सके ऐसा सत्य

निर्णय : प्रमाणों के आधार पर तय किया हुआ सत्य

वाद : ऐसी चर्चा जिसका उद्देश्य ज्ञान की वृद्धि हो

जल्प : ऐसी चर्चा जिसका उद्देश्य वाद में जीतना हो

वितण्डा : ऐसी चर्चा जिसका उद्देश्य केवल खंडन करना हो।

## ईश्वर पर न्याय दर्शन का मत

ईश्वर मूल पदार्थ है जो अशरीर, अमूर्त, अव्यक्त, सर्वत्र, निर्लिप्त और सर्वज्ञ है; जिसका गुण इच्छा है। अपनी इच्छा से शरीरों में प्रकट होकर भी वह क्षमता की दृष्टि से सीमित नहीं होता। वही उन परमाणुओं की रचना करता है जिनसे भौतिक सृष्टि की रचना होती है। अत: ईश्वर इन वस्तुओं के प्रत्यक्ष होने में निमित्त कारण है, उसका कर्ता है।

न्याय कहता है कि मन, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु कभी नष्ट नहीं होते! ये प्रलय के समय में सूक्ष्म रूप में बने ही रहते हैं; और नए संसार का कारण बनते हैं। अनित्य पदार्थों का भी कोई तो कर्ता होना ही चाहिए इसलिए ईश्वर ही

कर्ता है जो परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा अनेक अनित्य रूप लेता रहता है – इसीलिए पुराने शरीर मरते हैं और नए जन्म लेते हैं। इनके बीच ऊंच - नीच का भेद, उनके अपने जीवात्मा के अच्छे - बुरे कर्मों के कारण है। ईश्वर इसका साक्षी है, और उनके अच्छे - बुरे जन्म का निर्णय करता है। जैसे ही जीव की अविद्या दूर होती है, मनुष्य सत्य के दर्शन करके मुक्त हो जाता है।

## निष्कर्ष

ईश्वर कुंभार की तरह है, और सारे रूप बना सकता है,

उसी की इच्छा से परमाणु क्रियमाण होते हैं,

उसी की इच्छा से ऋत का अस्तित्व है (प्रत्येक ग्रह की चाल और परिधि, योनिज या अयोनिज प्रत्येक प्रजाति के जन्म - मरण की अवधि और प्रक्रिया),

ईश्वर सर्वशक्तिमान है इसलिए उसे शरीर धारण करना आवश्यक नहीं; और

ईश्वर सभी जीवों को फल देकर व्यवस्था को गति देता है।

## नव्य न्याय

इस शाखा के प्रमुख प्रचारक गंगेश उपाध्याय थे जो मिथिला के निवासी थे। उन्होंने तत्त्वचिंतामणि नामक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की थी। वाचस्पति मिश्र भी इस दर्शन के आचार्य हैं जो मिथिला के निवासी थे।

## वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणभक्षी ऋषि कणाद गौतम थे जो प्रभास पत्तन के निवासी सोम शर्मा के शिष्य थे। इनका गोत्र काश्यप था। इन्होंने प्रत्येक पदार्थ की सत्ता को विलक्षण या विशेष मानकर इस दर्शन का प्रतिपादन किया। विश्व मेँ पदार्थ की सूक्ष्मतम अवस्था को परमाणु की संज्ञा कणाद ने ही दी। महर्षि कणाद के संग्रह में 10 अध्याय हैं, जिनमें प्रत्येक में 2 – 2 आह्निक हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में बड़ी समानता है कि ये दोनों ही पदार्थ तत्त्व को स्वीकार करते हैं। न्याय में 16 पदार्थ माने गए हैं और वैशेषिक दर्शन 6 को मान्यता देता है। न्याय में 4 प्रमाण माने गए हैं और यहाँ केवल 2 (प्रत्यक्ष और अनुमान)। दोनों ही अज्ञान की निवृत्ति को मोक्ष मानते हैं।

इस विषय पर श्रेष्ठ टीका का नाम है पदार्थधर्मसंग्रह जिसे आचार्य प्रशस्तपाद ने भगवान बुद्ध के निर्वाण के बाद लिखी।

पदार्थ की परिभाषा है वह जो किसी पद के द्वारा विदित होता हो। 6 पदार्थ हैं: द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय। परवर्ती वैशेषिकों ने ‘अभाव’ को भी एक पदार्थ माना है!

द्रव्य: बिना द्रव्य के कोई भी अस्तित्व असंभव है, सारे गुण और धर्म का आश्रय द्रव्य के भीतर ही हो सकता है – इसके बाहर नहीं! घड़ा होगा तो ही वह घड़ा दिखेगा और पानी भरा भी जा सकेगा। द्रव्यों में कणाद ऋषि ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, समय, दिशा, मन और आत्मा को माना है! इन में से आकाश, समय, दिशा, और आत्मा, ये चार निष्क्रिय द्रव्य हैं, और शेष सक्रिय। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये सदैव परमाणु रूप में बने ही रहते हैं, बार–बार सृष्टि रचते हैं। ये अनादि हैं, इनमें आकाश का गुण अर्थात ‘शब्द’ गुण नहीं होता।

क्योंकि आकाश का अपना भी एक गुण है – शब्द, (शब्द इसी में जन्म लेता है और इसी में लय भी होता है) इसलिए इसे भी पदार्थ माना गया है। प्रत्येक गुणवान वस्तु को द्रव्य मानना ही होगा।

समय अथवा काल की परिभाषा है कि जहां (एक समय मेँ) दो घटनाएँ एक साथ, एक स्थान पर संभव नहीं। यह एक सनातन सत्य है इसलिए यह एक स्वतंत्र पदार्थ है; क्योंकि लोक व्यवहार में इसी को केंद्र में रखकर भूत, वर्त्तमान और भविष्य का संदर्भ लिया जाता है! इस तरह यह किसी भी पदार्थ की अवस्था या उपस्थिति का ज्ञान कराता है।

इसी तरह, दिशा भी एक नित्य और उपयोगी पदार्थ है क्योंकि इससे किन्हीं दो पदार्थों की आपसी दूरी और उपस्थिति के कोण का ज्ञान होता है।

वैशेषिक विद्वान आत्मा को भी द्रव्य मानते हैं क्योंकि इसका भी एक गुण है - चैतन्य! जिसका कोई गुण हो, वह निश्चित रूप से पदार्थ होगा ही । आत्मा वह द्रव्य है जिसमें चैतन्य निवास करता है! इस चैतन्य के कारण आत्मा को सुख-दुख, अच्छे-बुरे का ज्ञान होता है (ज्ञान करानेवाली इंद्रिय मन है) ! इस व्यक्तिगत आत्मा की मान्यता के कारण वैशेषिक भी एक अनेकात्मवादी दर्शन है।

मन: बिना मन के सुख-दुख इत्यादि का ज्ञान कौन करा सकता है? यही आत्मा को संदेश देता है, और उसके संदेश शरीरस्थ इंद्रियों को देता है। मन की इस असाधारण क्षमता के कारण ही आत्मा एक साथ अनेक वस्तुएँ कर पाती है: साइकिल चलाते हुए फोन पर बात करता हुआ अपने गंतव्य की ओर, दूसरे वाहनों से बचता हुआ ठीक गली में मुड़ता है, सुगंध लेता है और पान भी चबा - चबा कर गले से उतारता है! ऐसा कोई और उपकरण नहीं इसलिए मन एक विशेष द्रव्य सिद्ध होता है।

गुण: बिना द्रव्य के, गुण के रहने का आश्रय भले ही न हो ( जैसे ऊष्मा, बिना अग्नि के नहीं होती) लेकिन गुण हर हाल में किसी द्रव्य की विशेषता के रूप में भी एक स्वतंत्र द्रव्य सिद्ध होता है। जुड़ाव, तुड़ाव, स्निग्धता,रुक्षता, गंध, भार/वज़न, आकार, रंग इत्यादि गुण के उदाहरण हैं जो अपने आश्रय (इंद्रिय) के माध्यम से स्पष्ट दीखते हैं; और उस पदार्थ में स्थिर भाव से रहते हैं: जैसे पत्थर में भार।

कर्म: ये भी गुण की ही तरह पदार्थ से जुड़े हैं - गुण स्थिर होते हैं, लेकिन  कर्म गतिशील होते हैं। अग्नि का गुण ऊष्मा है लेकिन ऊपर की ओर उठना, और प्रकाश फैलाना उसके कर्म हैं।

सामान्य: वन में जो वृक्षत्व है, भीड़ में जो मनुष्यत्व है, गायों में जो गोत्व है; वह सामान्य द्रव्य कहा जाता है। मनुष्य खत्म हो सकते हैं मगर ब्रह्मांड में मनुष्यत्व के परमाणु कभी भी विनष्ट नहीं हो सकते। इसलिए  वैशेषिक इसे नित्य पदार्थ मानते हैं। इन्हीं के कारण सभी रूपों की पुनरावृत्ति हो पाती है!

विशेष: भले ही मनुष्यों में मनुष्यत्व सामान्य है लेकिन आपस में जो इनकी भिन्नता है, वो इनका विशेष द्रव्य कहलाती है। प्रत्येक शरीर स्वतंत्र परमाणुओं का बना है और उनका अपना बिलकुल निजी अथर्वासूत्र भी होता है। यह आपसी पृथक्ता ही प्रत्येक को विशेष द्रव्य सिद्ध करती है।

समवाय: यह फेविकोल है, इस के कारण द्रव्य में उसके गुण और कर्म स्थायी बने रहते हैं; और कभी अलग नहीं हो पाते: जैसे कि अग्नि से प्रकाश और ऊष्मा जुड़े ही रहते हैं। योग और सांख्य में जिसे संयोग कहा है वह अनित्य भी हो सकता है (जैसे गरम किया हुआ पानी कभी ठंडा हो ही जाता है) लेकिन यह समवाय द्रव्य उस नित्यता का द्योतक है जो जल में शीतलता से जुड़ा हुआ है - जो जल में स्थायी है।

अभाव: यह एक विरल विषय है जो वैशेषिकों की देन है। अगर कहा जाए कि ‘यहाँ नदी थी’ तो नदी के न होने पर भी नदी का द्रव्य रूप में ज्ञान हो जाता है।

न्याय और वैशेषिक दोनों कहते हैं कि कार्य और कारण में पिता – पुत्र का संबंध है। दोनों जुड़े होकर भी भिन्न ही होते हैं। कार्य के रूप बदलते हैं: मिट्टी घड़ा बनी, मिट्टी पृथ्वी थी, पृथ्वी तन्मात्रा थी…।

सांख्य कहता है कि घट और मिट्टी एक ही हैं, पर वैशेषिक दर्शन कहता है कि घट के विशेष गुण धर्म ही घट को घट बनाते हैं – वह मिट्टी से बना तो है पर स्वतंत्र भी है। वैशेषिक प्रश्न उठाते हैं कि अगर हम घट और मिट्टी को एक ही मान लें, तो इस दृष्ट और अनुभाव्य जगत को कैसे समझाया जा सकेगा!

## परमाणुवाद

जिस मात्रा को और अधिक विभाजित न किया जा सके उसे परमाणु कहते हैं। इसे न तो उत्पन्न किया जा सकता है, न ही इसका विनाश किया जा सकता है। हो सकता है कि ये परमाणु वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के हों, इनकी विभिन्न समष्टि से ही प्रकृति का निर्माण होता है (जिसे योग, न्याय, और सांख्य त्रिगुणात्मिका कहते हैं) और जिस से परिवर्तनशील पदार्थ बनते – बिगड़ते रहते हैं। इनका परिवर्तन अनुमान से प्रमाणित होता है, जैसे मिट्टी ही से सादा - सा घड़ा बनता है। वैशेषिक दर्शन कहता है कि सृष्टि और विलय एक अनादि प्रक्रिया है, ये परमाणुपुंज ही प्रकृति है। परमाणु की मूल प्रकृति अनुमानगम्य है कि ये त्रिगुणात्मक है – हालांकि इसे सीधे-सीधे त्रिगुणात्मक सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसे ही माया कहा गया है। कभी अनंत शांति में ईश्वर की इच्छा से इन परमाणुओं में गति हुई और उसी इच्छा शक्ति से बुद्धि, अहंकार और मन भी बने। तब कोई शरीर न थे लेकिन उसी इच्छा से विभिन्न शरीर बने, इसलिए सभी शरीरों की प्रारम्भिक अवस्था को सांकल्पिक माना जाता है।

यहाँ स्मरण हो आता है ओल्ड टेस्टामेंट का, जिसमें कहा गया है कि ईश्वर ने संकल्प से जो फरिश्ते बनाए उनमें एक आदम (मनुष्य) भी थे – वैशेषिककारों की विचारधारा से भी आदम सांकल्पिक ठहरते हैं (मगर ईव नहीं)! वैशेषिक विचार हमें यह सोचने को प्रेरित कराते हैं कि विभिन्न शरीरों की प्रजोत्पत्ति के लिए तदनुकूल ऋतु, कर्म और पारस्परिक आश्रय की परिकल्पना ही विकसित होकर सामने आई जिसे हम मोटे तौर पर पर्यावरण कहते हैं।

## सांख्य - एक द्वैत मूलक दर्शन

इसका प्रारम्भ "अथ" से किया गया है, जिसका आशय है कि इसके अनुसंधित्सु से, इस आरंभ से पहले, कुछ अभ्यास अपेक्षित है। साहित्य से प्रतीत होता है कि यह पहला आस्तिक दर्शन है जो पुरुष और प्रकृति को अनादि मानता है। यह एक द्वैतमूलक दर्शन है। यह कहता है कि सब कुछ प्रकृति के बदलते रूप का क्रम है – एक अर्थ में विकास की प्रक्रिया है, इवोल्यूशन है! प्रकृति में सब रूप पहले ही से अवस्थित थे जो बस प्रकट हुए जा रहे हैं - क्योंकि कुछ न हो, तो कुछ प्रकट हो ही नहीं सकता! शून्य से कभी कुछ नहीं बन सकता। अनादि चेतन आत्मा से जड़ प्रकृति का संयोग होने पर जगत वर्त्तमान रूप में जगत दिखाई देता है। पश्चिम में अरस्तू ने प्रकृति को matter कहा है, किसी ने potential कहा है, कहीं reality कहा है: पश्चिम के विद्वान भी शायद यही कहना चाह रहे हैं कि प्रकृति ही सत्य है। पुराणों में जहां प्रकृति और पुरुष के संयोग के परिणाम को सृष्टि कहा है, भगवान शंकर और पार्वती माँ को नृत्यरत चित्रित किया गया है, वहीं पश्चिम के विद्वानों ने इसे cosmic intelligence कहा है। लगता है दोनों एक ही बात कह रहे हैं। परिणामों की यह शृंखला स्वयं ही विकासशील होती रहती है!

ऐसा माना जाता है कि उपनिषत्काल के ऋषि कपिल ने सांख्य को संगृहीत किया (एक कपिल मुनि ईसा के 700 वर्ष के आसपास भी हुए मगर सांख्य इस से बहुत पुराना है)। यह दर्शन, वेद और उपनिषदों में भी झलकता है। इस दृष्टि से यह न्याय और वैशेषिक से प्राचीन लगता है।

इसमें सृष्टि के उपादान कारणों की गणना की गई है इसलिए इसे सांख्य कहा गया है। जो सम + आख्य अर्थात सम्यक रूप से कहा गया है वही सांख्य है। प्रश्न है कि ऐसा चिंतन ही क्यूँ? उत्तर है कि मनुष्य की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि ब्रह्मांड के रहस्यों पर सोचे, अपनी उत्पत्ति पर विचार करे। आइन्स्टाइन ने भी तो ऐसा ही सोचा कि बिजली की गति क्या है, कैसे है? आज का विज्ञान प्रकाश को भी एक

पदार्थ मानने लगा है, कहते हैं कि उसके पार्टिकल (particle) हैं - जो हम से टकराते है! यही तो सांख्य भी कहता है कि तेज या अग्नि एक पदार्थ है; एक तत्त्व है! सांख्य कहता है कि कार्य (यथा घड़ा) कभी कारण (पृथ्वी या मृदा) से भिन्न हो ही नहीं सकता! यही बात आज का विज्ञान कहता है कि Motion is inherent in matter. यूं प्रकृति ही हर वस्तु का कारण है। न इसकी उत्पत्ति संभव है, न विनाश। उत्पत्ति और विनाश तो वस्तु के धर्म हैं, वे स्वयं में वस्तु नहीं!

इसका विरोध करते हुए वैशेषिक कहते हैं कि जब मृदा ही घड़ा है तो घड़े आदि की उपस्थिति ही नहीं होनी चाहिए! लेकिन इसका उत्तर सांख्य में यूं दिया गया है कि प्रत्येक वस्तु अपने कारण रूप में ही समाती है: दूध से ही दही बनाता है और लोहे से मोटर; मोटर से दही नहीं बनता और दूध से लोहा नहीं निकलता - कारण भले प्रकृति ही है।

दूष से दही बनने की इस प्रक्रिया को ही सांख्य ने परिणामवाद कहा है, इसे वेदान्त का विवर्तवाद कहा जा सकता है। वेदान्त भी सारूप्य से परिणाम की बात कहता है, वैरूप्य से नहीं। डोरी और सर्प में समानता है इसलिए विवर्त्त की संभावना है, मगर डोरी से पेड़ का भ्रम नहीं हो सकता क्योंकि उनके रूप अलग-अलग हैं।

ईश्वरकृष्ण (वो जो या 250 या 400 ईसा के बीच हुए) की (सांख्यकारिका) प्रसिद्ध टीका में सांख्य के दो भाग हैं: षडाध्यायी और तत्त्वदर्शन। जिसमें इन 25 के बारे में कहा गया है:-

प्रकृति = (1) एक है

विकृति = ज्ञानेन्द्रिय (आँख, नाक, कान, रसना, त्वक)

(16) कर्मेन्द्रिय (हाथ, पाँव, वाणी, उपस्थ, पायु)

तन्मात्रा (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी)

मन (जो इन 15 से जुड़ा रहता है)

प्रकृति – विकृति (7) = बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श,रूप, रस, गंध।

न प्रकृति, न विकृति= (1) एक पुरुष (चेतन आत्मा)

इन 25 में प्रकृति और पुरुष हमेशा अदृश्य रहते हैं। एक अचेतन है और दूसरा शुद्ध चेतन। पहले में सुख-दुख नहीं होते, भाव नहीं होते, दूसरे में ये गुण हैं – इस अर्थ में आत्मा भोक्ता है।

अनादि अविद्या के कारण पहले प्रकृति और पुरुष का जब संयोग होता है तो प्रकृति में अवस्थित तीनों गुणों में "गुण क्षोभ" होता है, जो भयंकर उथल-पाथल या महाविस्फोटों के रूप ले सकता है! फिर बुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे दो प्रकार के अहंकार आंदोलित होते हैं: सात्विक और तामसिक। सात्विक अहंकार से 5 ज्ञानेंद्रियां (दृष्टि, घ्राण, स्वाद, श्रवण,स्पर्श) और 5 कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, जीभ, उपस्थ, मलद्वार) उत्पन्न होती हैं। तामसिक अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी) और उनमें से पंचमहाभूतों की विभिन्न समष्टि से (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध) से स्थूल देह बनती है। इनसे अभिव्यक्ति की संभावना बनती है और मन के कारण ही, ये सभी उस मन नामक उपकरण से जुड़ी अपना-अपना बोध कराती हैं।

तन्मात्राओं में स्थूल शरीर बनाने की क्षमता होती है। ये तन्मात्राएँ सभी पदार्थ के कारण - द्रव्य हैं। इंद्रियों से सूक्ष्म शरीर बनता है। स्थूल शरीर पाँच महाभूतों के मिश्रणवाला होता है, और ऐसे शरीर प्राय: माता-पिता से बनते हैं। इसी कारण आत्मा को देहाभिमान हो आता है। कई शरीर अपने आप भी बनते हैं जैसे गोबर में गोबरैला/ बिच्छू। लेकिन सांख्य की दृष्टि से मूलत: सभी शरीर सांकल्पिक हैं।

चार्वाक कहते हैं कि शरीर केवल पृथ्वी आदि चार तत्त्व से बना है और उसमें आकाश तत्त्व की कोई संभावना ही कहाँ है! सांख्य छ प्रकार के शरीर मानता है:

सुर और असुर (अन्य लोक के निवासी), मनुष्य, नारकीय (पाताल लोक के निवासी), तिर्यक योनि (पशु-पक्षी); और स्थावर योनि (पेड़-पौधे)। स्थूल शरीर चार प्रकार का होता है (स्वेदज, अंडज, उद्भिज, जरायुज)। इस के अलावा सांकल्पिक और सांसिद्धिक शरीर भी होते हैं जैसे क्रमश: सनक मुनि और शिखंडी।

सांख्य मानता है कि जड़ प्रकृति से चेतन पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकता (कथं असत: सत जायेत?)। जड़ प्रकृति अपने - आप तो रूप बदल नहीं सकती अत: इसे अपनी तरह एक सार्वकालिक और अनादि पुरुष की आवश्यकता होती है, यह बात भी अपने-आप सिद्ध हो जाती है! सत से ही सारे सत रूप बने हैं। इस तरह असत कुछ हो ही नहीं सकता। पुरुष और प्रकृति का संयोग अनादि घटना है जो जड़ और त्रिगुणात्मिका प्रकृति और चेतन पुरुष में तब होता है जब सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण अपनी समावस्था खो देते हैं। भीतर दृष्टि करके इस अविद्या को दूर करते ही सृष्टि का रहस्य खुल जाता है, और पुरुष को आत्यंतिक दुखों से मुक्ति मिल जाती है। जैन और बौद्ध दर्शन सांख्य से प्रभावित दर्शनों में हैं।

प्रकृति में ये तीन गुण ऐसे बसते हैं जैसे अलग प्रकार के पेड़ होने पर भी उस स्थान को एक वन या एक उपवन कहा जाता है।

विज्ञानवादी कहते हैं कि सृष्टि यूं ही बिखरे हुए परमाणुओं से बनी है लेकिन सांख्य, उन परमाणुओं को तीन गुण वाली व्यवस्था बताता है! तीन गुणों का यह अनुपात कालांतर में कभी सम रहा होगा ऐसा सोचना भी मुश्किल है, इसलिए इसे ऐसा माना जाएगा कि यह सदा रूप बदलती ही रही है (सर्वत्र सर्वदा सर्व असंभवात अर्थात सब कुछ वैसा ही रहे यह असंभव है) जैसे अकारण ऋतु बदलती है वैसे ही रूप बदलना प्रकृति की विशेषता है।

सांख्य कहता है कि यह सृष्टि सत्य है, और दृश्यमान है इसलिए यह निर्विवाद है कि यह अपने कारण-भाव में भावयुक्त रही होगी (अवस्तुनो वस्तुसिद्धि:)। इस

भावयुक्त पक्ष को अविद्या कहा जा सकता है - जिसके दूर होते ही सत्य यूं सामने आता है, जैसे रोग दूर होने पर स्वास्थ्य।

सांख्य ईश्वर को इसलिए नहीं मानता कि वह प्रमा से (प्रमा के साधन प्रमाण से) सिद्ध नहीं हो पाता! इस विशेष कारण से यहाँ ईश्वर नहीं है ऐसा कहने के स्थान पर ऐसा कहा गया है कि वह अगर है तो सिद्ध नहीं हो पाता (ईश्वरासिद्धे: 92)। जहां भी सांख्य में ईश्वर शब्द का प्रयोग (सूत्र 95) हुआ है वहाँ प्रबल या सिद्ध (लेकिन सीमित) आत्मा का अर्थ लिया जाए ऐसा विद्वानों का मत है। इस संदर्भ में आज के युग का एक सत्य सामने आता है कि आज हम google या कंप्यूटर को आप्त प्रमाण मानने लगे हैं। इसमें अधिकतम जानकारी भरी होती है और आज के युग में इसे कुछेक व्यावहारिक बाबतों में आप्त प्रमाण मान सकते हैं। NASA के ये कंप्यूटर भले ही दस हज़ार साल पुराने समय की कुंडली बना लें लेकिन धूमकेतु की उपस्थिति नहीं बता सकते क्योंकि उसकी उपस्थिति ग्रहमंडल के भाग के रूप में सत्य हो कर भी (गणना की दृष्टि सीमित होने के कारण) संभव हो नहीं सकती! इस तरह ईश्वर की अपेक्षा, शरीरस्थ आत्मा के ज्ञान को सीमित मानना ही होगा! सांख्यकार कहते हैं कि ईश्वर तो चिरंजीवी होना चाहिए लेकिन जीव में ईश्वर के इस गुण के स्थान पर सप्रयास दीर्घायु होने की कामना प्रतिक्षण दिखती है: प्रतिपल जीव अपने जीवन को बचाने के प्रयास में व्यस्त रहता है। इस तरह न तो ईश्वर सिद्ध होता है, न ही यह कि जीव ईश्वर का अंश है।

सांख्य कर्म प्रधान नहीं, ज्ञान प्रधान है: यहाँ माना गया है कि सारे कर्मों का क्षय होता है; इसलिए उपासना, यज्ञ-याग, उपवासादि तप से कैवल्य प्राप्त नहीं हो सकता, अगर हो सकता है तो विवेक-ज्ञान से। जैसे कोई नदी से नहाकर निकलता है तो पुन: उसकी देह सूख जाती है वैसे ही जब पुण्यों का क्षय होता है तो फिर फेरा शुरू होता है! कार्य का फल तो वैसे भी मिलता ही है – इस के लिए ईश्वर को फल देने वाले राजा की तरह देखने से कोई लाभ नहीं। ईश्वर और सृष्टि, कोई पिता

पुत्र नहीं हैं – अगर ऐसा होता तो किसी आत्मा रूपी पुत्र को कोई ईश्वर रूपी पिता सज़ा या दुख क्यूँ देता?

न किसी की उत्पत्ति है, न ही विनाश; सब कुछ मूल तत्त्वों का परिणाम है जो समय के साथ बदलता ही रहता है। समय और दिशा को सांख्य ने अलग तत्त्व न मानकर, आकाश का अविभाज्य अंग माना है। सांख्य यह मानता है कि वस्तु किसी भी रूप में हो, किन्तु आदि काल में वह अपने कारण रूप में प्रकृति में विद्यमान थी ही, जैसे घड़ा सदा मिट्टी या पृथ्वी (+ जल इत्यादि) तत्त्व में उपस्थित था, और अवस्थित रहेगा। दूसरा विषय है विपर्यय या विवर्त्त; जो रूप से सीधा नहीं जुड़ा बल्कि सोच से संबन्धित है; जैसे है तो डोरी, लेकिन किसी को साँप लग रही है, किसी को माला। साँप को साँप देखना और समझना, प्रमा कहलाता है; जबकि उसे डोरी समझना अप्रमा/ विपर्यय/विवर्त्त कहा जाता है! यह दृश्य देखनेवाला चेतन होता है, और प्रकृति के ये सारे रूप और पर्याय वस्तुत: वैसे ही हैं, जैसे पर्दे पर दिखाई देनेवाले चित्र। इन चित्रों का तब तक कोई औचित्य या अस्तित्व नहीं जब तक इनको जीवित दर्शक न देखे, जिसे चेतन स्वरूप आत्मा कहते हैं।

जब कोई भी वस्तु रूप बदलती है तब भी वह अपने उपादान कारण से संबद्ध रहती ही है, और बुद्धि के स्तर पर उसके मूल रूप को जाना जा सकता है, जैसे घट कभी न कभी मिट्टी ही था!

सांख्य अनेकात्मवादी दर्शन है, और मानता है कि जितने शरीर हैं उतनी ही आत्मा होंगी: ‘मुझे अच्छी नींद आई’ ऐसा कहते ही स्वतंत्र आत्मा की उपस्थिति सिद्ध हो जाती है! विभिन्न शरीरों में निवास करने वाली आत्मा, आपस में सजातीय हैं; और गहरे अर्थ में परम पुरुष से सम्बद्ध हैं। सांख्य के अनुसार: “पुरुष्बहुत्वम व्यवस्थात” (45/6) अर्थात शरीर-धारी जीवित आत्मा और मृत आत्मा के लिए समय - समय पर शरीर की एक व्यवस्था को मान्यता देनी ही पड़ेगी। आत्माओं के पुनर्जन्म को भी अनुमान प्रमाण से जाना जाता है।

दुख तीन प्रकार के माने गए हैं: आध्यात्मिक (शरीर में हुए उपद्रव जो इंद्रियों के हीनमिथ्यातियोग से होते हैं), आधिभौतिक (जो अन्य के शरीरों द्वारा आए हों जैसे सर्पदंश, मार्ग दुर्घटना, झगड़ा); और आधिदैविक (पंचभूतों द्वारा मिले हुए दुख: जैसे आग, बाढ़, सीढ़ी से गिरना, सिद्धों का अभिशाप)। आत्मा का स्वभाव नहीं कि दुखी हो, दुख नैमित्तिक वस्तु मात्र है। अविद्या को दूर करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य गुरु से उपदेश सुने, ब्रह्मचर्य का पालन करे। यह भी कहा गया है कि अंत:करण (मन+बुद्धि+अहंकार) की शुद्धि, वैराग्य और चिंतन - मनन के नित्य आवर्तन महत्वपूर्ण हैं। केवल सुनने और शास्त्रार्थ करने से सिद्धि नहीं मिलती – उनमें सार्थकता होनी चाहिये ("न श्रवणमात्रात सिद्धि:") ("ज्ञानान्मुक्ति:") ("वृत्तिनिरोधात्सिद्धि:")। सिद्धि की प्राप्ति में अध्ययन, दान, विमर्श की बहुत महिमा है। सांख्य में सिद्धि के लिए एक माध्यम है 'ऊह' – जिसका अर्थ है पूर्व (जन्म) के प्रताप से बिना गुरु के भी बहुत अल्प समय में ज्ञान हो जाना। निरंतर साधक को अपनी प्रकृति और अपनी बुद्धि में दोष देखते रहना चाहिये – आंतर-चिन्तन करते रहना चाहिए ("दोषदर्शनात उभये" – 28/4)।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है ये अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है। यहाँ गुण का अर्थ रस्सी के अर्थ में है, जो बंधन का कारण बनती है। प्रत्येक आत्मा के संदर्भ मेँ, सत्व, रजस, और तमस का अनुपात भिन्न होने के कारण सभी व्यक्ति भिन्न विचारों के होते हैं! जब आत्मा या जीव प्रकृति को ठीक से जान लेती है, तो अविद्या या अविवेक दूर होते ही, उसे अपने विशुद्ध अस्तित्व का ज्ञान वैसे ही होता है जैसे किसी खोये हुए राजकुमार को राज-पाट मिलने पर होता है! मोक्ष ऐसे ही प्राप्त होता है। "आत्यंतिको दुखत्रयाभाव: कैवल्यम" अर्थात प्रकृति मे स्थित तीनों गुणों की लीला से मुक्ति मिल जाना ही कैवल्य है! "असंगोSयम पुरुष इति" (15) पुरुष ठीक उस तरह निस्संग है जैसे उबला हुआ पानी, जो ठंडा होने पर पुन: अपनी प्राकृतिक अवस्था में आ जाता है! प्रत्येक देहधारी अपनी सुरक्षा (अभिनिवेश), खाने की प्रक्रिया इत्यादि जन्म से ही करता है; पक्षी जन्म से उड़

सकते हैं, जलचर तैरते हैं, मानव शिशु माँ के स्तन से दूध पीता है: इस तरह उसके पुनर्जन्म या पिछले जन्म की स्मृति और आवागमन का तथ्य अनुमान से प्रमाणित हो ही जाता है। प्रयोग से अभी-अभी प्राप्त किए ज्ञान को अभिज्ञा कहते हैं, और पिछली स्मृति का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। इस से सिद्ध होता है कि आत्मा एक स्वतंत्र शारीरिक सत्ता है, जो स्वयं परमात्मा नहीं होती। अगर ऐसा होता तो किसी एक योगी के मोक्ष को प्राप्त होने पर सभी देहधारियों की भी मुक्ति हो जाती!

## योग दर्शन

भगवद गीता में कहा गया है कि ज्ञानीजन सांख्य और योग को भिन्न नहीं देखते! कुछ विद्वान यहाँ सांख्य और योग शब्द को ज्ञानयोग और कर्मयोग के अर्थ में देखते हैं फिर भी एक अन्य मत के अनुसार इन शब्दों के प्रयोग से ऐसा लगता है कि योग और सांख्य का अस्तित्व महाभारत समय में था। विद्वानों का मत है कि पतंजलि से पहले राजा जनक, मारीचि, आचार्य सूर्य, कौत्स, अंगिरा, कश्यप आदि ने भी योग का मंडन किया था।

उत्तर प्रदेश के गोंडा (गोनर्द) क्षेत्र में एक महिला जब आँख बंद करके सूर्य को जल दे रही थी तो उसने उस जल से एक महातेजस्वी शिशु को उतरते देखा, अत: उसे पतंजलि नाम दिया गया! 'युज' धातु से योग शास्त्र का प्रकाश और प्रचार हुआ। प्रचलित मत है कि पतंजलि द्वापर युग में जन्मे थे, उनके सूत्रों पर भाष्य करने वाले प्रमुख ग्रंथ हैं योगवार्तिक, योगमाणिप्रभाकर, भोजवृत्ति, और वाचस्पति मिश्र की टीका।

पतंजलि के प्रयत्नों को सरल भाषा में यूं भी समझा जा सकता है कि 'ज्ञान तो हो ही जाएगा, पहले जुड़ जाओ' और उन्होंने जुडने की, योग की ऐसी कुछ विधियाँ सुझाई हैं जो उनसे पहले किसी दर्शन में नहीं देखी जाती, जैसे प्राणायाम। इस तरह, यह दर्शन कर्म-प्रधान है।

पतंजलि का प्रथम वाक्य है 'अथ योगानुशासनम'; इसका अर्थ है कि 'अब' योग की चर्चा आरंभ होती है'। यहाँ अब का अर्थ यह होता है कि इस शास्त्र को जानने से पहले कुछ और तैयारी की आवश्यकता अपेक्षित है। पूरे शास्त्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि माया से बद्ध आत्मा, जीव भाव से शरीर में रहता है; फिर भी उसमें और ब्रह्म में विजातीय भेद न हो कर केवल सजातीय भेद है! यहाँ ईश्वर को अनुमान प्रमाण से मान्यता दी गई है, मगर सांख्य ने यहाँ मौन रखा है। ईश्वर, आत्मा

और प्रकृति ये तीन अनादि माने गए हैं, इसलिए इसे सेश्वरसांख्य कहा गया है। इस का एक नाम उत्तरसांख्य भी है अर्थात इसे सांख्य का परिशिष्ठ भी कहा गया है - क्योंकि ये ईश्वर को छबीसवें तत्त्व के रूप में मान्यता देने के सिवा उन्हीं पच्चीस तत्त्वों पर आधारित है। यहाँ ईश्वर को देहधारी न मानकर ओंकार या ध्वनि रूप में कहा गया है ('तस्य वाचक: प्रणव:')।

सांख्य की तरह परिणामवादी (न किसी पदार्थ की उत्पत्ति संभव है, न विनाश) होने पर भी योग दर्शन मूल रूप से कर्म प्रधान दर्शन है। यही इसकी विशेषता है। योग सूत्र में कैवल्य की प्राप्ति के लिए विविध उपाय भी बताए गए हैं, इसलिए यह अधिक व्यवहार्य, अनुकरणीय है, और प्रसिद्ध भी है। इसमें प्रारब्ध को भोगने और संचित को दग्ध करने की विधि भी सुझाई गई है। एक विद्वान लिखते हैं कि 'जैसे वर्षा होने पर उगी घास किसी सूखे प्रदेश में दबे बीज का प्रमाण है, वैसे ही मनुष्य के मन में योग के लिये जिज्ञासा हो, यह उसके पिछले जन्म के सुकर्मों का प्रतिफल है।'

रसप्रद होगा अगर हम सांख्य और योग पर एक तुलनात्मक दृष्टि डालें। दोनों ही परिणामवादी दर्शन हैं। सांख्य का ज्ञान जीवन में लाने के साधन योग दर्शन जुटाता है। योग दर्शन, सांख्य जितना पुराना नहीं है। सांख्य ईश्वर पर मौन – सा है, लेकिन योग ईश्वर को अनुमान प्रमाण से मान्यता देता है। सांख्य में पदार्थ की गिनती है, योग पदार्थ से मिल जाने, युक्त होने पर, जुड़ जाने पर केन्द्रित है। सांख्य केवल पुरुष और प्रकृति को मानता है, लेकिन योग दर्शन ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि मानता है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ बस परमात्मा में सम्पूर्ण लय हो जाए (शुद्धाद्वैत), आंशिक लय की बात आचार्य रामानुज (विशिष्टाद्वैत) कहते हैं; और पतंजलि अपने योगशास्त्र में कहते हैं कि निरुद्धचित्त होने पर उस शून्य या स्वस्वरूप का ज्ञान संभव है। इसके लिए विधि है – यम, नियम, आसान,

प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि। ऐसी विधि न शंकराचार्य ने दी, न और किसी ने! इनमें पहले पाँच बहिरंग साधन हैं, और शेष तीन अंतरंग। यम नियम आदि से साधक का मन शांत और संतुष्ट रहता है कि जो उसे अपेक्षाकृत लंबे समय तक सुखासन में बैठ कर प्राणायाम आदि करने में सहायक होता है।

जब तक चित्त चंचल है, जब तक लक्ष्य बाहर है, जब तक सांसारिक कामनाएँ हैं, तब तक आत्मा आवेष्टित रहेगी, तब तक इंद्रियों का निरोध करना पड़ेगा। पुराने साधकों को बहिरंग साधन तक पहुँचने में अधिक समय नहीं लगता। इंद्रियों को भीतर मोड़ने के लिए बहिरंग साधन काम आते हैं! जैसे ही इंद्रियाँ वश में आ जाती हैं, आत्मा को अपने सही रूप का ज्ञान होने लगता है। निरुद्धचित्त होने पर जो शून्यता अनुभव होती है, वही कैवल्य या मोक्ष या ब्रह्मज्ञान है, या उसका द्वार तो है ही है। इन प्रयासों की तुलना गाय को दुहने की क्रिया से की जा सकती है, जिसके बिना दूध प्राप्त नहीं किया जा सकता!

जैसे व्यायाम से अधिक भार उठाने की क्षमता क्रमश: प्राप्त होती है, वैसे ही प्राणायाम इत्यादि से प्राण को धारण करने, और बुद्धि को निर्मल – निश्चल और स्थिर करने का कौशल प्राप्त होता है।

प्रत्याहार का अर्थ है दसों इंद्रियों का मन से संपर्क तोड़ देना अर्थात वह स्थिति जब सारी इंद्रियाँ अंतर्मुखी हो जाती हैं – बाहरी उपद्रव छूट जाता है! जैसे कोई सिनेमा हाल में कहानी देख रहा है मगर जब उसके मन में कल होने वाली परीक्षा के विचार चल रहे हैं, तो न उसे सिनेमा के दृश्य से मतलब रहता है, न गीत से – यह प्रत्याहार का एक निकटतम उदाहरण है! आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि इंद्रियों को रोकना इसलिए आवश्यक है क्योंकि सारे पदार्थ इन इंद्रियों के कारण ही अनुभाव्य हैं! प्रत्याहार से इच्छाओं का अवसान होता है इसलिए इसे कामावसायित्व सिद्धि भी कहा जाता है! अन्य शब्दों में अथवा रचनात्मक शब्दों में, ऐसा योगी पूर्णकाम हो जाता है!

इसके पश्चात देखते हैं कि धारणा का उल्लेख होता है, अर्थात मन की ऐसी स्थिति कि जिसमें चित्त पर केवल एक ही वस्तु या विचार अवस्थित हो – जैसे हम ने परीक्षा के विचार का उदाहरण देखा। इसके बाद आने वाले ध्यान के संबंध में यह कहा गया है कि ये गंगा के बहते नीर की तरह गतिमान धारणा है। अंत में आने वाला अंग है समाधि – जिसमें ध्यान के विषय का आभास ही रह जाता है! जब तक देहभान है तब तक उसे संप्रज्ञात समाधि कहेंगे, और जब देहभान न रहे तो उस अवस्था को असंप्रज्ञात समाधि कहेंगे। धारणा, ध्यान और समाधि , इन तीनों के संयोग को संयम कहते हैं। इसे भूतविजय भी कहा गया है। यहां से अष्ट-सिद्धि की शुरुआत होती है। इन सभी के बारे में आगे भी उल्लेख होगा।

मोक्ष या कैवल्य के विषय में भिन्न परिभाषाएँ देखने में आती हैं: बुद्ध का निर्वाण इच्छाओं का बुझ जाना है (निवृत्ति नहीं); कुछ विद्वान इसे दुख की सर्वथा निवृत्ति मानते हैं, कुछ इसे दुख के अभाव से प्राप्त आनंद मानते हैं; लेकिन योग इसे निरुद्धचित्त दत्त रचनात्मक (क्योंकि जीव अपने और ब्रह्म के अभेद को जान लेता है) शून्य या कैवल्य मानता है! आत्मा ठीक वैसे ही निर्विकार है जैसे कोई अभिनेता स्त्री का पात्र करता हो मगर उसे सतत यह भान होता है कि वह पुरुष है; इसी तरह गहरे में प्रत्येक पुरुष (साधक) अपने शुद्ध स्वरूप से सभान होता ही है ,मगर उसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति रंजित किए रहती है।

योग सूत्रों की विशेषता यह है कि यह शास्त्र साधकों को पथ दिखलाता है। चर्चा करता है कि साधक क्या करे, क्या न करे! इसके चार विभाग क्रमश: उच्च, मध्यम और अन्य प्रकार के जिज्ञासुओं के लिए है, प्राय: हर जगह यह दर्शाया गया है कि विधि क्या है!

पतंजलि का दूसरा सूत्र है “योग: चित्तवृत्तिनिरोध:” यह अपने-आप में पूरी तकनीक नहीं है तो क्या है! तीसरा सूत्र है “वृत्तिसारूप्यम इत: अत्र” अर्थात पुरुष यह सोचता है कि जब जिसकी जो वृत्ति होती है उस वक्त उसे वैसा हो जाने का

भ्रम होता है। चित्त अगर एक दीपक है, तो वृत्ति उसकी किरणें हैं। एक विधि है "तत जप: तदर्थभावनम" अर्थात मंत्र या गुरुमंत्र का उस मंत्र के अर्थ के साथ आवर्तन करना – आशय है मन को वश करके चित्त को सुस्थिर करना। मुझे लगता है कि इस सूत्र ने मंत्र योग की नींव रखी है! चित्त के पाँच प्रकार कहे हैं: क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, निरुद्ध और एकाग्र। इतने कारणों से चित्त रंजित ही रहता है।

पाँच प्रकार के क्लेश चित्त को उलझाए रखते हैं : राग, द्वेष, अभिनिवेश, अविद्या, अस्मिता। अभिनिवेश का यहाँ सीधा अर्थ है कि दीर्घायु होने की कामना; मनुष्य या कोई भी प्राणी मृत्यु से बचना चाहता है जो कि अपने–आप में पिछले जन्म के मृत्यु की स्मृति का प्रमाण तो है ही, साथ-साथ आत्मा में रहने वाली अन्य स्मृति और आत्मा की नित्यता का प्रमाण भी है। मृत्यु का डर साधक के चित्त को अस्थिर रखता है। इस विषय पर पतंजलि कहते हैं 'हेयम दुखम अनागतम'। अत: साधक को अकारण भयभीत नहीं रहना चाहिए। राग और द्वेष के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं यानी 'सुखानुशयी राग:' और 'दुखानुशयी द्वेष:'। पतंजलि चाहते हैं कि किसी भी मुमुक्षु को यम-नियम वाली पद्धति से ही आरंभ करना चाहिए। अष्टांग योग का अर्थ है यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इस संदर्भ मे पतंजलि ने आसन को वह मुद्रा कहा है जिस स्थिति में साधक बहुत लंबे समय तक स्थिर बैठकर आनंद से योगाभ्यास कर सके। पद्मासन, वज्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन जैसा कोई भी आसन सुखकारी और स्थिर होता है।

वृत्तियाँ पाँच है: प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति। इन के कारण ही चित्त हमेशा व्यस्त रहता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से चित्त  वस्तु को सत्य मानने लगता है; विपर्यय से रज्जु में सर्प देखने लगता है; उन स्थितियों में अनुभव के आधार पर विकल्प भी चुनने लगता है; नींद में भी उसे "मैंने सपना देखा" ऐसा याद रहता है; और सभी पशु-पक्षियों मेँ जन्म से अपने शरीर के अनुसार उड़ने,

तैरने, आत्मरक्षा जैसी स्मृति आजीवन बनी ही रहती है। एक बात विशेष है कि नींद में होने वाला ज्ञान, ज्ञान का अभाव न हो कर विशेष ज्ञान है।

प्राणायाम: ''प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य'' अर्थात बाह्य और आंतर कुंभक करके प्राण को सुखपूर्वक धारण करना, जिस से मन की प्रवृत्ति रुक जाती है; और कुल मिलाकर चित्त का स्थैर्य प्राप्त होता है। इस पर एक संक्षिप्त अध्याय इसी पुस्तक के अंत में दे रहा हूँ क्योंकि इस में मेरी बड़ी श्रद्धा है। प्राणायाम में भी अगर प्रतिदिन 80 भस्त्रिकाजन्य कुंभक किए जाएँ तो नाडी शोधन हो जाने पर, योग के लिए साधक का शरीर तैयार हो जाता है: जैसे मिर्ची सब को तीखी लगती है वैसे ही यह प्राणायाम प्रत्येक प्रकार के साधक को योग मार्ग के योग्य बनाता है। योगी कहते हैं कि प्राणायाम में पूरक, कुंभक और रेचक का अनुपात 1: 4: 2 मात्रा का होना चाहिए, (यहाँ मात्रा, समय का एक माप है: क्षण और अणु क्रमश: समय और पदार्थ की अविभाज्य स्थिति मानी गई है) साधक इस माप को मंत्र मानकर चले, या घड़ी देखकर चले, ये अपनी-अपनी रीति हो सकती है। जिस प्राणायाम में पसीना हो वह कनिष्ठ, जिसमें कंप हो वह मध्यम; और जिसमें उड़ने का या लाघव का अनुभव हो वह श्रेष्ठ प्राणायाम होता है।

ध्यान की विधियाँ: कहते हैं ''यथाभिमतध्यानात वा'' यानी जैसा उचित लगे वैसा ध्यान करके चित्त को वश किया जाए। स्वामी विवेकानंद जैसे विश्वासपात्र विद्वानों का मत है कि नासिकाग्र पर ध्यान से दिव्य सुगंध की अनुभूति होती है (जिव्हाग्र से दिव्य रस, मूर्धा से दिव्य रूप, जिव्हामध्य से स्पर्श, जिव्हामूल से दिव्य शब्द की अनुभूति होती है)। इसी तरह त्राटक, नादश्रवण, अंगुली के पोर पर भी ध्यान की चर्चा हठयोगप्रदीपिका जैसी पुस्तकों मेँ की गई है - जिस से चित्त तो स्थिर होता ही होता है, अन्य चमत्कार भी अनुभव में आते हैं। इस विषय पर सोचने से स्पष्ट लगता है कि सारा प्रयास स्थूल से सूक्ष्म की ओर यात्रा करने का है।

“तप स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:” इन तीनों का सम्मिलित रूप क्रियायोग कहलाता है। तप ऐसा हो जो सुख दे; तड़प, देहदमन, पीड़ा इत्यादि देने वाला तप कोई तप नहीं होता।

वृत्तियों और चित्त का निरोध होते ही स्वस्वरूप की अवस्था प्राप्त होती है - जो कैवल्य की ओर पहला डग होती है। चित्त को निरुद्ध करने के लिए एक और विधि है “अभ्यासवैराग्याभ्याम तन्निरोध:” (भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि “अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृहयते”। एक सूत्र यह भी है कि “तीव्रसंवेगानाम आसन्न” अर्थात समाधि उनके पास (आसन्न) है, जिनमें वैराग्य तीव्र है।

नियमों में एक सूत्र है “ईश्वर प्रणिधानात वा” (या फिर प्रभु, गुरुमंत्र, इष्टस्मरण, मूर्तिपूजा इत्यादि द्वारा) चित्त एकाग्र करने से भी कैवल्य प्राप्त होता है। यहाँ ईश्वर शब्द का अर्थ मूर्तिपूजा जैसा कुछ भी निकाला जा सकता है, लेकिन परिभाषा निर्विकार है “स व्यष्टिसमष्टिरूपो”। मेरी दृष्टि में यह अर्थ है कि साधक सफलता या असफलता जैसे प्रत्येक परिणाम को प्रतिपल ईश्वर को समर्पित करके संतुष्ट रहे, उसे नित्य अपने साथ अनुभव करे।

योग के जानकार ईश्वर के संबंध में कहते हैं कि ईश्वर, जीव और प्रकृति ये तीनों अनादि हैं। ईश्वर है और होना ही चाहिए क्योंकि इसके बारे में वेद प्रमाण देते हैं और वेद, आप्त प्रमाण हैं; और यह कि पुरुष और प्रकृति को मिलाने वाला भी तो कोई होना ही चाहिए–ऐसा सकारात्मक और सुव्यवस्थित संचालन करने वाले की अनुपस्थिति में ये सृष्टि संभव हुई हो ये नहीं माना जा सकता।

पतंजलि अपने विभूतिपाद के पहले सूत्र में कहते हैं कि धारणा चित्त की होती है, जिसके दो देश हैं: आध्यात्मिक देश अर्थात जो शरीर के भीतर हों जैसे कि चक्र, जिव्हाग्र आदि; और धारणा के बाह्य देश होते हैं चंद्रमा, सूर्य, मूर्ति, दीप-शिखा, पर्वत के शिखर इत्यादि। इन पर धारणा करने का आदर्श समय 5 घटी (अर्थात

22 मिनट X 5 = लगभग 120 मिनट) है, ध्यान 10 घंटे (60 घटी); और समाधि 12 दिन की मानी जाती है।

यहाँ देखने की बात यह है कि धारणा तक जितने भी उपाय हैं सारे निषेधात्मक हैं, अर्थात चित्त को भटकने से रोका जाता है, जब कि धारणा, ध्यान और समाधि विधेयात्मक हैं।

समाधि को एक ऐसी अवस्था कहा गया है जिसमें किसी भी विषय के मूल स्वरूप का या उस विषय/ वस्तु के उपादान कारण का ज्ञान होता है – (जैसे घड़े को देखकर मृदा का ज्ञान स्पष्ट हो जाए: क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपने कारण रूप में रहती ही है। परिणाम रूप नष्ट होने पर वह अतीतावस्था में चली जाती है, और नए रूप में प्रकट होने से पहले अनागत अवस्था में विराजमान रहती है।

जैसा कि हमने देखा, धारणा, ध्यान और समाधि से भूतविजय की स्थिति के पश्चात, इन तीनों के सम्मिलित रूप को संयम कहा गया है। कहते हैं कि नाभि में संयम करने पर शरीर की क्रियाओं का ज्ञान होता है; चन्द्र पर संयम से तारामंडल का ज्ञान होता है; योगी स्वयं अपने स्वरूप पर संयम करे, तो शरीरस्थ पंच महाभूतों पर अपने-आप संयम हो जाता है; और यदि वह चाहे तो अन्तर्धान भी हो सकता है; या अन्यत्र उपस्थित भी हो सकता है। अष्ट सिद्धियाँ इसी समय प्रकट होने लगती हैं, जिन में प्राय: सब से पहले वचनसिद्धि की झांकी होती है। विशेषकर प्राकाम्य यानी किसी भी वस्तु की इच्छा करके पा लेना; प्राप्ति यानी दूरस्थ वस्तु को भी पा लेना; वशित्व यानी पंचभूतों के स्वभाव बदल पाना; और ईशित्व, अर्थात पंचमहाभूतों को उत्पन्न या विघटित कर पाना।

कैवल्यपाद में पतंजलि कहते हैं: जन्म से (जैसे कोई अवतारी पुरुष अपनी साधना के बल पर जन्म ले); औषधि से (पारद भक्षण इत्यादि); मंत्र से; तप से; और समाधि से सिद्धि मिलती है। कैवल्य की प्राप्ति सब के लिए संभव है।

## योग दर्शन का प्रभाव

हम देख सकते हैं कि हमारे अधिकांश दर्शन चिंतन, मनन, निदिध्यासन, उपदेश श्रवण, ध्यान, गुरु-उपदेश इत्यादि का पथ दिखलाकर अपनी बात समाप्त कर देते हैं। जिज्ञासु के लिए प्रश्न छोड़ जाते हैं कि अब वह करे तो क्या करे! गुरु खोजे तो कैसे, और कहाँ खोजे! गुरु का तो आज-कल एक विशाल समुदाय है, जिसमें गुरु जैसे दिखने वाले अनेक व्यक्ति हैं, मगर अपना गुरु कौन हो ये कैसे पता किया जाए?

समाज में देखें तो लगता है कि योग का अर्थ योगासन का पर्याय हो चुका है, और बहुत लोग आसन और आसनसिद्धि को ही योग की चरम अवस्था मानकर चल रहे हैं; ऐसा प्रशिक्षण दे-दे कर बड़ी दुकान जैसे आश्रम चला रहे हैं! ये कार्य भ्रांतिजनक है, और बहुत से जिज्ञासु, योग के असली रूप से अनभिज्ञ रह जाते हैं। अधिकांश लोग जीवन भर अच्छे स्वास्थ्य को ही योग मानकर यात्रा करते रहते हैं, जब कि आसन तो एक साधन मात्र है। फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि अन्य दर्शनों की अपेक्षा, योग हमें कोई रास्ता तो दिखाता ही है! पतंजलि कहते हैं: जन्म, औषधि, मंत्र, तप, और समाधि से सिद्धि मिलती है!

योग की इस सरलता, उपयोगिता और व्यावहारिकता के कारण इसमें से मुख्यत: चार शाखाएँ निकल आई हैं। मंत्रयोग, हठयोग, पुष्टियोग और राजयोग (ज्ञानयोग)। इन पर मेरे संक्षिप्त विचार इस प्रकार हैं:-

मंत्रयोग: इसका मूल, योग शास्त्र में इसलिए है कि योग सूत्रों में पतंजलि, सांख्य से अधिक खुलकर, ईश्वर और सविकल्प समाधि की ओर इशारा करते हैं। प्रणव अर्थात ॐ के चिंतन या मनन की सलाह देते हैं। लगता है कि इसी का विकसित रूप मातृकादि न्यास इत्यादि हैं। विभिन्न ध्वनि या ध्वनि-समूह का पर्याप्त संख्या में जप करके, मस्तिष्क में उन से संबन्धित केन्द्रों को आंदोलित या जागृत किया

जाता है। ऐसा करने पर अतींद्रिय तथ्यों का परिचय या स्वानुभव प्राप्त होता है - ऐसा देखने में आता है। इस विषय पर सभी भारतीय भाषाओं में कई पुस्तकें उपलब्ध हैं। अंगेजी भाषा में माननीय श्री जॉन वुडरोफ ने अपनी उल्लेखनीय पुस्तक "दि गारलेंड ऑफ लेटर्स" में अनुभवजन्य सामग्री दी है।

हठयोग: योग की यह विधा आसनसिद्धि, और मनुष्य में देखी जाने वाली श्वासप्रश्वास की प्रक्रिया, तथा उसमें चन्द्र, सूर्य तथा सुषुम्णा नाड़ियों के वहन पर केन्द्रित है। नाथ संप्रदाय का उल्लेख इसी संदर्भ में किया जा सकता है। इसमें करोडरज्जु में अवस्थित चक्रों के भेदन द्वारा विविध गति से कुंडलिनी शक्ति के जागरण और उसकी ऊर्ध्व गति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यह सारा अभ्यास एक व्यक्तिगत सत्य होता है, ऐसा मेरा विश्वास है।

हठ शब्द से क्रमश: सूर्य और चन्द्र का अर्थ ग्रहण किया जाता है, लेकिन सामान्य लोग इसे योगियों के जिद्दी होकर असाधारण अवधि तक आसन लगाए रहने के अर्थ में भी देखते हैं।

कुंडलिनी जागरण करना हठयोग का प्रमुख कार्य है, क्योंकि इसके बाद प्रत्येक साधक अपने – अपने ढंग से साधना भी करता है और समाज के लिए किसी न किसी रूप में गुरु का कार्य कर सकता है। हठयोग प्रदीपिका इस विषय पर प्रमुख ग्रंथ माना जा सकता है। इस में कुंडलिनी शक्ति के जागरण के पश्चात उसके ऊर्ध्वगमन की विविध गतियों के बारे में भी विवरण दिया गया है – जो सत्य है।

पुष्टियोग: स्वामी जगन्नाथतीर्थ प्रभृति योगी जन की टिप्पणियाँ और हठयोग पर लिखी गई हठयोग प्रदीपिका जैसी कई पुस्तकों में नाद - श्रवण के अभ्यास द्वारा सात प्रकार की ध्वनियों के श्रवण का विधान है। वस्तुत: राधास्वामी संप्रदाय ने इस दिव्य ध्वनि के श्रवण द्वारा परम सत्य के दर्शन का उपदेश किया है। ये मूलत: निर्गुण साधना है, लेकिन भारतीय मानस बिना मूर्ति/व्यक्ति पूजा के बेचैन हो उठता है, इसलिए इन ध्वनियों को पुष्टिमार्ग में भगवान कृष्ण की वंशी से सम्बद्ध कर

दिया गया है। लगभग यही घटना हमारे सभी दर्शनों के साथ होती दिखाई देती है: निर्गुण का उपदेश, प्राय: सगुण में परिवर्तित हो जाता है! ऐसा कहते हैं कि गुरु नानकदेव पर नाथ संप्रदाय का गहरा प्रभाव था, और लय योग (नाद श्रवण) तथा सुषुम्णा नाड़ी के संदर्भ में उनके अपने अनुभव हमें "सुखमनी जी" में प्राप्त होते हैं।

राजयोग: ये ठीक वही है जो सांख्य और योग के सूत्र ब्रह्मांड के संदर्भ में कहते हैं। मुख्य विषय हैं संसार को वैराग्य से देखना, प्रत्येक घटना के संबंध में सावधानीपूर्वक निर्लिप्त रहना, हर तरफ और हर समय निर्गुण का वास देखते रहना, और वीतराग बने रहना। मैंने तो किसी  राजयोगी के दर्शन अब तक नहीं किए, लेकिन वे हमारे बीच आसानी से पहचाने जा सकें, यह भी तो आवश्यक नहीं!

## तंत्र

योग से जुड़ा–जुड़ा-सा विषय है तंत्र। इसमें मंत्र के उच्चारण या संकल्प से असाधारण परिस्थिति निर्माण करने के दृष्टांत देखे जाते हैं। आचार्य शंकर ने रामायण और महाभारत में उल्लिखित ब्रह्मास्त्र विद्या जैसी सिद्धियाँ प्रदान करने वाली शक्ति साधनाओं को दश महाविद्याओं में विभाजित या संपादित किया। ये सभी साधनाएँ पूर्णत: गुरुगम्य और दीक्षा पर ही आधारित हैं। इन में 5 काली कुल में, और शेष 5 श्रीकुल में हैं। प्रत्येक में दक्षिणाचार और वामाचार, यूं दो प्रकार के आचार या साधना पद्धतियाँ हैं। इनकी साधना गृहस्थ भी कर सकते हैं। महिलाओं को भी इस मार्ग में दीक्षा दी जाती है। इस क्षेत्र में अनेक ढोंगी व्यक्ति आ जाने से ये साधनाएँ समाज में बहुत अविश्वसनीय बन गई हैं। गायत्रीमंत्र जैसी उच्च्च दीक्षा भी ऐसी तंत्र दीक्षा के अंतर्गत ही आती है। मैं यह सोचता हूँ कि अकारण कुछ भी लोकप्रिय नहीं हो सकता, सच्चे साधकों की कीर्ति के कारण सामान्य लोग इस पथ पर युगों से आते हैं, लेकिन सच्चा और हितकारी गुरु मिलना साधक के हाथ नहीं होता!

## नाथ संप्रदाय

ऐसा कहते हैं कि आदिनाथ नामक एक योगी ने अपने तप से भगवान शंकर को प्रसन्न करके उनके प्रकाशमान कुंडल पहनने के लिए मांग लिए थे; जो इस परंपरा में, उनके शिष्य, कान में कुंडल पहन कर आज भी अपने गुरु के प्रति अपना सम्मान व्यक्त करते हैं: यथा कनफटा साधु संप्रदाय। नाथ परंपरा में 9 बड़े नाथ हुए हैं: भर्तृहरि, कृष्णपाद, गोपीचन्द, चर्पटिनाथ, रेवडनाथ, गेनीनाथ, पचंगीनाथ, जालंधरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ। इनके अतिरिक्त 84 सिद्ध भी माने जाते हैं।

इस संप्रदाय में आसन, नाड़ीशोधन, चक्रभेदन और शाबर मंत्रों का चलन है। इसमें शाबर मंत्र की दीक्षा के कारण, और सभी समाज के वर्गों के समावेश होने के कारण इस प्रथा का बहुत अच्छा प्रचार हुआ है। इस संप्रदाय में गोरक्षनाथ ने अपने गुरु को असम प्रदेश में कामलीला से मुक्त कराया, और वहाँ वज्रयान पंथ के बौद्धों द्वारा फैले वामतंत्र से भी समाज को मुक्ति दिलाई।

## शाबर मंत्र

शाबर मंत्र की दुनिया प्रत्येक देश मेँ, प्रत्येक भाषा में आबाद है। इस का मैं प्रत्यक्ष साक्षी रहा हूँ, और आज तक समझ नहीं पाया कि उन निहायत सामान्य मंत्रों में, उनमें प्रयुक्त अर्थहीन और विचित्र भाषा में क्या शक्ति है जो समाज में मनचाहा कार्य संभव हो जाता है! पूर्णत: दीक्षा पर आधारित होने के कारण, ये जितना लगता है, उतना अविश्वसनीय तंत्र नहीं है! मुझे यह क्षेत्र भी योग विद्या की एक दूरस्थ शाखा प्रतीत होता है!

## मीमांसा (पूर्व)

वेदों में समाहित कर्म (हवन आदि), उपासना (देवता) और ऋत से संबन्धित विधि-निषेध को समझाने का सुंदर प्रयास मीमांसा में है – जिसके प्रणेता जैमिनि माने जाते हैं।

मीमांसासूत्र ग्रंथ में 12 अध्याय हैं, और 2750 सूत्र हैं। इसका पहला सूत्र है 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। यह कहा जाता है कि जैमिनि और पाणिनि समकालीन थे (400 बीसी के आस-पास)। इन सूत्रों पर शबर मुनि का शाबर भाष्य प्रसिद्ध है, इसी कड़ी में कुमारिल भट्ट, मंडन मिश्र, माधवाचार्य, सायणाचार्य भी प्रमुख माने जाते हैं।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते हैं। सांख्य शास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन को प्रमाण मानते हैं। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त और उपमान (गाय से गाय जैसा) को प्रमाण माना गया है। जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण के अलावा अर्थापत्ति को भी प्रमाण माना है जो भाषा की दृष्टि से यूं समझा जा सकता है – "देवदत्त दिन में नहीं खाता लेकिन मोटा है"; इस तरह के वाक्यों में उस अर्थ को ग्रहण करना होता है जो प्रकट या स्पष्ट नहीं है। जैसे उक्त वाक्य में निष्कर्ष निकलता है कि देवदत्त रात में अवश्य खाता होगा, हालांकि इसका कोई विवरण मूल वाक्य में नहीं है! जैमिनि के परवर्ती कुमारिल भट्ट जैसे विद्वानों ने अभाव या अनुपलब्धि को भी प्रमाण माना है जैसे कि 'नदी थी' इसमें नदी न हो कर भी नदी का बोध होता है।

मीमांसकों की एक शाखा वेद के अलावा किसी भी शब्द को प्रमाण नहीं मानती क्योंकि उनके दृष्टिकोण से प्रत्येक प्रमाण को अनुभवजन्य होना चाहिए। ये वेद के शब्द को ही प्रमाण मानते हैं क्योंकि उनका सीधा संबंध निश्चित अर्थ और

आकाशीय घटना से है। अन्य शब्दों को प्रमाण इसलिए नहीं मानते क्योंकि अन्न कहने से अन्न न तो उत्पन्न होता है, न ही किसी का पेट भरता है – कहीं कोई अनुभव न होने के कारण, वह प्रमाण नहीं हो सकता। सांख्य में ऐसा कहा गया है कि कोई भी वाक्य अनित्य ही हो सकता है लेकिन वेद वाक्य नित्य हैं। न्याय में भी वेद को प्रमाण मानते हैं क्योंकि इनमें अभूतपूर्व तथ्यों का असाधारण उल्लेख है। "मैंने घड़ा देखा" यह कहने के लिए, पहले से ही किसी घड़े का देखा होना अनिवार्य है, वैसे ही वेद में उल्लिखित विषय, वेद के प्रणेता द्वारा पहले ही से अनुभूत माने जाते हैं!

चार्वाकों ने तो वेद के (शब्द) विषय में यहाँ तक कहा है कि वेद के शब्द "बुद्धिपौरुषहीनानाम जीविका"। भारत में वैचारिक स्वतन्त्रता का इससे बड़ा क्या प्रमाण हो सकता है?

मीमांसक दृश्य जगत के सभी पदार्थों के अदृष्ट रूप को भी मान्यता देते है : अग्नि से दाहकता, शब्द से बोध, मृदा से स्पर्श। यह माना जाता है कि प्रकृति में विराजमान अपने अदृष्ट बीज से ही तत्संबंधित दृष्ट रूप बनते हैं – अंकुरित होते हैं और परिवर्तित भी होते रहते हैं।

इस तरह मीमांसा भी एक अनेकात्मवादी और वस्तुवादी दर्शन है, जो परिवर्तनशील रूपों और शरीर बदलती आत्माओं (जीवों) को मान्यता देता है। यहाँ आत्मा कर्ता भी है, और भोक्ता भी।

मीमांसा का उद्देश्य है जगत में प्रवर्तमान धर्म (नियमों) का ज्ञान पाकर जागतिक रूपों से उत्पन्न हो रहे राग - द्वेष आदि से आत्मा को मुक्त करना! प्रत्येक वस्तु का धर्म जानने से ही सच्चा ज्ञान संभव होता है। ईश्वर फल का दाता नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक जीव कर्म के लिए, ज्ञान के लिए, मुक्ति के लिए स्वतंत्र होता है! मीमांसक यज्ञ में हवि देने का समर्थन तो करते हैं लेकिन उन देवताओं में सीधे - सीधे ईश्वर-भाव आरोपित नहीं करते।

## वेदान्त दर्शन (उत्तर मीमांसा)

इसे परा विद्या भी कहा गया है, और प्रयास किया गया है कि जीव और ब्रह्म का संबंध यथार्थ जाना जाए। यह दर्शन कहता है कि ब्रह्म ही एक मात्र पदार्थ है, और रूपों भरा यह जगत उसका विवर्त मात्र है। अर्थात इन रूपों को, इस माया को, सत्य और नित्य मानना एक भूल है। ब्रह्म ही इस माया का उपादान कारण है, ब्रह्म के सिवा कुछ भी नहीं है। इस विषय पर भिन्न मत रहे हैं। न्याय और वैशेषिक कहते हैं कि जीव, जगत और प्रकृति तीनों नित्य हैं तथा यह कि पुरुष (आत्मा) इस जगत का कर्ता न होकर दृष्टा मात्र है!

इस दर्शन का मूल ग्रंथ बादरायण व्यास रचित ब्रह्मसूत्र है। इस पर आचार्य शंकर (ईसा 688 – 720) के भाष्य और परिचर्चाओं के कारण इस दर्शन की प्रतिष्ठा हुई। इस ग्रंथ में कई ऋषियों के विचारों के आधार पर कैवल्य की प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है। आचार्य शंकर ने गीता, ब्रहमसूत्र और उपनिषदों के सम्मिलित ज्ञान का प्रचार किया - जिसे प्रस्थानत्रयी कहा जाता है।

ब्रहमसूत्र पर शंकराचार्य, रामानुजाचार्य प्रभृति विद्वानों द्वारा कई टीकाएँ लिखी गई हैं जिन में प्रत्येक में लगभग 550 सूत्र हैं।

आचार्य शंकर की 4 अध्यायों और 555 सूत्रों वाली टीका को शारीरक भाष्य कहा गया है। “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” पर भाष्य से इसका आरंभ किया गया है। इस टीका से प्रतिपादित किया गया है कि जिसमें समस्त सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय है, वह ब्रह्म है। माया तो ब्रह्म की शक्ति का नाम है - जैसे अग्नि की शक्ति है प्रकाश। माया ही ईश्वर की शक्ति है, हालांकि ब्रह्म अगर चाहे तो बिना शक्ति के भी सूक्ष्म रूप से स्वतंत्र रह सकता है - जैसे गरम लोहे की छड़ में बसा हुआ अग्नि; लेकिन जो माया है, वह बिना ब्रह्म के कहीं भी अवस्थित नहीं हो सकती। माया से युक्त होने पर ब्रह्म को सगुण ईश्वर कहा जाता है; जो रूपात्मक

जगत की सृष्टि कर सकता है; और रूप हमेशा बदलते ही रहते हैं: जैसे मनुष्य के शरीर से केश, नाखून के आकार, रंग बदलते हैं; जैसे पेड़ पर ऋतुओं के प्रभाव से पत्ते, फल, ऊंचाई इत्यादि बदलते हैं।

सारा जगत ईश्वर की इच्छा से अवस्थित है। सूत्र है कि "एकोहम बहुस्याम प्रजायेत" अर्थात मैं एक हूँ पर अनेक बनूँ (न कि उत्पन्न करूँ); यहाँ 'प्रजायेत' से बनने का तात्पर्य है, न कि पैदा होने का। इस तरह अव्यक्त ब्रह्म में, व्यक्त होने की उसकी अपनी इच्छा के कारण यह जगत अनुभाव्य है। अद्वैतवाद कहता है कि जो अव्यक्त था वही व्यक्त हुआ है – वह एक ही है, उस एक के अलावा, या उस एक से अधिक कुछ नहीं। थोड़े से अंतर से रामानुज का विशिष्टाद्वैत कहता है कि ब्रह्म में जब चित और अचित दोनों अवस्थित हैं। जब सब कुछ इसमें है, तो अचित भी है। अत: ईश्वर चिदचित ठहरता है, ब्रह्म, प्रकृति में विराजमान रहता है।

यहाँ जगत की उत्पत्ति का क्रम आकाश से मानते हैं ("आकाशात वायो: ...."); इनमें से ज्ञानेन्द्रिय (शब्द, स्पर्श ...) बनती हैं – जो अनुमान प्रमाण से सिद्ध होते हैं, फिर उससे स्थूल रूपों की उत्पत्ति होती हैं, जैसे वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। तत्पश्चात अंत:करण (बुद्धि+मन+अहंकार) बनता है: बुद्धि का अर्थ है निश्चयात्मिका वृत्ति; मन का अर्थ है संकल्पविकल्पात्मिका वृत्ति (ज्ञानेन्द्रियों+कर्मेन्द्रियों का नियामक); और चित्त का अर्थ है अनुसंधानात्मिका वृत्ति। अहंकार उसे कहते है जहां "मैं" होने का अनुभव – जैसे 'मैं ठीक से सो सका।'

स्थूल भूतों से अन्नमय देह बनती है। सूक्ष्म देह में मन, बुद्धि, 5 प्राण + 5 ज्ञानेंद्रियाँ और 5 कर्मेन्द्रियाँ निवास करती हैं। पाँच वायु और पाँच कर्मेन्द्रिय से प्राणमय देह बनती है। मन और ज्ञानेन्द्रियों के मिलन से ज्ञानमय देह बनती है। बुद्धि और सभी इंद्रियों के मिलन से विज्ञानमय देह बनती है; और इनमें आत्मा के योग से आनंदमय देह बनती है।

माया ही ईश्वर की इच्छा-शक्ति है इसलिए कोई भी प्राणी इच्छा रहित नहीं रह सकता। विवेकचूड़ामणि में आचार्य शंकर कहते हैं कि माया का आवरण इतना गहरा है कि आत्मा विवर्त्त से मुक्त नहीं हो पाता। इस आवृत्त आत्मा को ही जीवात्मा कहा जाता है। यह जीवात्मा चेतना की दृष्टि से ब्रह्म ही है, मगर कर्मों की स्वतन्त्रता और माया के आवरण के कारण से एक भोक्ता, एक कर्ता, और एक प्रमाता भी है। कर्मों के कारण आत्मा अलग - अलग शरीर धारण करती है। तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर और जीव एक ही हैं, पर व्यवहार की दृष्टि से भिन्न हैं।

शंकर कहते हैं कि ताप तीन प्रकार के हैं: आध्यात्मिक (शरीर से जुड़े), आधिभौतिक (दूसरों द्वारा दिये गए) और आधिदैविक (शाप, बाढ़, आग, झंझा इत्यादि)। त्रिगुणातीत जीव ब्रह्म है और गुणवान ब्रह्म ही जीव है। आत्मा को प्रमाणित करना आवश्यक नहीं क्योंकि वही तो इंद्रियों और मन व्दारा अनुभव लेता है, सुख-दुख भोगता है। अगर ईश्वर के रूप में सोचें तो आत्मा वैसे ही निर्लिप्त है: जैसे कोई अभिनेता स्त्री पात्र करने पर स्त्री नहीं होता।

आत्मा के संबंध में हमारे दर्शनों में भिन्न मत हैं। चार्वाक कहते हैं कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, और मृत्यु ही मोक्ष है! बौद्ध कहते हैं कि बुद्धि ही आत्मा है, जो विद्युल्लेखा की तरह चमक – चमक कर इस दृश्य जगत को चमकाती रहती है! यहाँ सब कुछ क्षणिक है! जैन दर्शन कहता है कि आत्मा का रूप इतना सूक्ष्म है कि वह प्राणी के शरीर में कण - कण में व्याप्त है।

आचार्य शंकर कहते हैं कि मनुष्य को ऋत का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; और इसे अभ्यास तथा चिंतन से अनुभव करना चाहिए। 'अहं ब्रह्मास्मि, जीवो ब्रहमैव नापर:' इस आत्मसात करने के लिए सतत मनन, समाधि और निदिध्यासन करना चाहिए। यह भान साधक को आठों प्रहर होना चाहिए; स्वप्न या जागृत - हर दशा में: जागृत दशा वह है जिसमें मनुष्य को इंद्रियजन्य ज्ञान होता है और स्वप्न

अवस्था में जो ज्ञान होता है वह इंद्रियजन्य नहीं होता। दोनों में ज्ञान तो है, मगर ज्ञान के स्रोत अलग हैं।

अद्वैतवाद को अरबी भाषा में 'वहदत - उल – वुजूद' कहा जा सकता है। जहां-जहां कोई आकार है वहाँ-वहाँ ईश्वर सिफ़ाती रूप में उपस्थित होता है, ज़ाती रूप में नहीं। एक और दृष्टिकोण भी है 'वहदत - उल – शहूद' अर्थात जो-जो भी दिखता है वह सब एक समय उस नूर में ऐसे समा जाएगा जैसे बूंद जाकर समुद्र में मिल जाती है।

## विशिष्ट अद्वैतवाद (रामानुजाचार्य)

ईसा 800 के आस-पास भक्ति प्रधान वैष्णव संप्रदाय के रामानुज आचार्य ने इस दर्शन को अंतिम रूप दिया। उन से पहले यामुनाचार्य, श्रीवत्स प्रभृति विद्वान इस विचारधारा में हुए।

ब्रह्म की उपस्थिति आत्मा में भी है, और जड़ प्रकृति में भी है। प्रकृति के भीतर इस तरह चेतन का दर्शन करने के कारण, इसे विशिष्ट अद्वैत दर्शन कहा जाता है। ब्रह्म अपनी इच्छा-शक्ति से प्रकृति को चेतन कर देता है जो उसका वैलक्षण्य है, और इसी के कारण प्रकृति नाना रूपों में प्रकट होने लगती है! यह जगत मिथ्या नहीं हो सकता। अत: आत्मा, प्रकृति, और ईश्वर, इन तीनों की समष्टि को ही ब्रह्म कहा जाता है। जैसे गहने के कण – कण में सुवर्ण है वैसे ही प्रकृति में ब्रह्म बसा हुआ है। प्रकटत: कुछ भी हो, वस्तुत: ब्रह्म ही होता है।

रामानुज कहते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कह देने से ब्रह्म कैसे हुआ जा सकता है! इस सृष्टि में ईश्वर की इच्छा से तेज, जल, आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं: जिनमें सत्व, रजस और तमोगुण थे। इन की विभिन्न समष्टियों से ये जगत उत्पन्न हुआ। इसी तरह आत्मा, शरीर ले कर जीव बना है जो सीमित होने के कारण प्राकृतिक रूप से अल्पज्ञ, और अविद्या/ कर्मों के फलस्वरूप, बार - बार जन्म लेने को बाध्य है! उसे अभ्यास और चिंतन से मुक्त हो जाना होगा। यूं यह जगत एक सत्य है , प्रपंच या माया नहीं है।

सुंदर तर्क है कि अगर प्रकृति पूर्णत: जड़ होती तो वह चेतन ब्रह्म के साथ एकाकार कैसे हो जाती! विलय समान पदार्थों में हो सकता है! ये दोनों विसदृश और नित्य हैं, तो उनका यह वैसादृश्य भी एक ध्रुव सत्य ठहरता है। इस तरह, शुद्ध द्वैतवाद ठीक नहीं हो सकता, न ही शुद्ध अद्वैतवाद।

## जैन दर्शन

जिन्होंने जीवन पर विजय प्राप्त कर ली, उन्हें जिन कहते हैं; और उन जिनों का अनुकरण करनेवालों को जैन कहते हैं। जैन दर्शन पुनर्जन्म को कार्य – कारण के आधार पर मानता है और मोक्ष को भी, इसलिए जैन दर्शन सनातन धर्म का अविभाज्य अंग है।

वैदिक साहित्य में भी ईश्वर पर विवाद चलता ही रहा था, मगर कहीं कोई सामाजिक उपद्रव नहीं। चार्वाकों ने तो वेदों की बुराई ही नहीं , बहुत बुरी तरह से हंसी उड़ाई थी! जैन दर्शन में वेद-विरोध तो है मगर चार्वाकों के भोगवाद को अस्वीकार कर दिया गया है। भोगवाद के ठीक विपरीत, जैन दर्शन ने सदाचार, परलोक, पुनर्जन्म, साधना, योग, समाधि, सम्यक दृष्टि और तप का आग्रह रखा है। जैन दर्शन में और अन्य दर्शनों में कोई विशेष अंतर नहीं, फिर भी जैन एक अलग पंथ बनने के पीछे जो कारण हैं वे प्राय: सामाजिक कारण हैं। ईसा से लगभग 500 वर्ष पूर्व जब अध्यात्म या कर्मकांड पर, संस्कृत – प्रधान वेद-आधारित ब्राह्मणवाद के एकाधिकार ने एक समाज के बड़े समुदाय में अकारण हीन भावना उत्पन्न कर दी थी, ठीक तब स्थानिक भाषा में प्रस्तुत की गई इस विचारधारा ने समाज में सब को समानता और सम्मान दिया। इसके कुछ ही पीछे बौद्ध धर्म भी उसी पथ पर चला।

महावीर स्वामी के मुख्य 9 गण (शिष्य) थे। लगभग 300 ईसा पूर्व में पटना क्षेत्र में प्रथम जैन परिषद होने के बाद श्वेतांबर और दिगंबर पंथ स्पष्ट रूप से अलग हो चुके थे। आचार्य स्थूलबाहु ने वस्त्र पहनने की आज्ञा दे दी थी, जब कि भद्रबाहु ने दिगंबर रहने का आदेश दिया था। इस परिषद के कोई 700 वर्ष बाद (745 ईसा में) दूसरी परिषद गुजरात के भावनगर में आचार्य देवधर्म की अध्यक्षता में हुई, जिसमें श्वेतांबरों के 12 आगम ग्रंथ संपादित हुए। इन ग्रन्थों में सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, गणित, स्वास्थ्य, इत्यादि का विशद विवेचन किया गया (इसी परिषद

में जैन धर्म के चार वेद संपादित हुए: प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, और द्रव्यानुयोग)। इन परिषदों में जैन गणना पर भी विचार हुआ क्योंकि प्राचीन जैन गणना दशमलव पद्धति पर न हो कर, अंक 6 पर आधारित थी: जैन आगम में प्रकृति का कालचक्र भी 6 भागों में माना गया है: केवल सुख> सुख> सुख+दुख> दुख> केवल दुख> दुख+सुख। जैन दर्शन के अधिकांश ग्रंथ मागधी या अर्धमागधी में लिखे गए हैं!

जैन दर्शन में ईश्वर की परिकल्पना ही नहीं है। ईश्वर होता तो कोई सुख के बाद दुखी होता ही क्यूँ; उजाले के बाद अंधेरा भी क्यूँ होता? जब कोई गृहिणी भी अपने चावल कुछ कच्चे और कुछ पक्के नहीं रखती तो ईश्वर जैसा सर्वज्ञ कहीं सुख और कहीं दुख रख ही नहीं सकता! अत: ईश्वर नहीं है, और ये सृष्टि अपने - आप ही चल रही है। प्रत्येक पदार्थ व्यक्त रूप में अनित्य है, लेकिन सत्यत: भावरूप या सूक्ष्मतम रूप में परमाणु की अवस्था में वह सदैव विद्यमान रहता है। परमाणु के चार आधार हैं : वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। आकाश के परमाणु हो नहीं सकते क्योंकि परमाणु स्वयं ही आकाश में रहते हैं। इनके संधान (संयोग/समष्टि) से ही नानाविध पदार्थ बनते हैं, और पूर्ण रूप से विघटित होने पर ये फिर परमाणु स्थिति में अवस्थित हो जाते हैं। जैन स्थूल पदार्थ को स्कन्ध, और पदार्थ की सूक्ष्म स्थिति को परमाणु कहते हैं। पुद्गल उसे कहते हैं जो पूरी तरह विगलित होकर परमाणु हो जाता हो।

इसी को थोड़ा और देखते हैं: प्रत्येक पदार्थ अविनाशी है, और उसके दो रूप हैं: नित्य और अनित्य। अत: एक अर्थ में प्रत्येक पदार्थ (धातु भी) आंशिक रूप से जीवित तो है ही। इन परमाणुओं के अतिरिक्त एक स्थिर चैतन्य पदार्थ भी है - जो इनमें गति करता है – इसे जीव कहते हैं। जीव इन परमाणुओं का सत्य जानने के बाद ही मुक्त हो सकता है। इस तरह, जैन दर्शन भी अनेकात्मवादी दर्शन है। इसमें यह माना जाता है कि शरीर के कण - कण में आत्मा/ जीव व्याप्त है, जो मृत्यु के पश्चात अपने कर्मों के अनुसार स्वयं ही गति करता है।

जैन दर्शन 9 तत्त्व को मानता है: जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सँवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष। इन में आस्रव का अर्थ है वे पदार्थ या संस्कार जो स्रवते/ बहते हुए आकर, हमारे मन को रंजित करते हैं, भ्रांति में डालते हैं; इन स्रावों से बचने के लिए सम्यक दृष्टि को अनिवार्य माना गया है। यह भ्रांति हमें बांधती है। इसे ही बंध कहा गया है। सँवर एक तप है - जिस से साधक अपनी आत्मा को आस्रव से दूर रखता है। निर्जरा का अर्थ है दूषित आत्मा का तप द्वारा शुद्धिकरण।

जैन दर्शन मानता है कि निराकार से निराकार, और साकार से ही साकार प्रसूत हो सकते हैं; इसलिए साकार और निराकार दोनों सत्य होने चाहिए। ये दोनों ही अनादि हैं। जैन मत है कि (14 अरब वर्ष पहले हुए एक) विस्फोट से सब कुछ बना है - यह पृथ्वी भी उसी का परिणाम है, जिस पर कालांतर में पानी बना। पानी और उस पर जमे पदार्थ (समुद्र की काई) से जीव सृष्टि की उत्पत्ति हुई। यूं जब सारी जीव सृष्टि उस एक ही पदार्थ/ तत्त्व से बनी है तो किसी भी प्राणी की हिंसा करना, एक अर्थ में आत्महत्या ठहरता है। हमारा अस्तित्व ही दूसरों पर आधारित है। इसे जैन अनुशासन कहते हैं। यदि राम न हुआ, तो श्याम भी कल न रह सकेगा: मानव के प्रयत्नपूर्वक हिंसा के कृत्यों से सृष्टि के नियम टूटते हैं। यदि हिंसा का यह क्रम अबाध चला तो एक दिन कोई नहीं बच सकता: यही नागार्जुन का शून्यवाद है कि सृष्टि के न रहने पर शून्य ही रहेगा।

जैन दर्शन कहता है कि उस एक विस्फोट के कारण बने हम सब में वस्तुत: एक ही तत्त्व होना चाहिए, सब किसी न किसी रूप में एक दूसरे के अंश या पूरक ही ठहरते हैं। एक तथ्य यह भी है कि सृष्टि को देखने वाला भी कोई तो है ही, अन्यथा इस ब्रह्मांड के अस्तित्व का साक्षी कौन है? इस का द्रष्टा सार्वकालिक ही हो सकता है।

आचार्य कुंदकुंदाचार्य: ये दिगंबर परंपरा के महान संत थे और समयसार, नियमसार, आदि ग्रंथ इन्होंने मागधी भाषा में रचे।

उमास्वाति : ये जन्म से ब्राह्मण थे और जैन ग्रन्थों को संस्कृत में लिखने का आरंभ इनसे हुआ। इनकी प्रमुख कृति है "तत्वार्थाधिगम"। ये कहते हैं कि ज्ञान वह है जिस के द्वारा अर्थ का बोध मिले! जैसे दूध में नीलमणि रखने से दूध नीलवर्ण होने का बोध होता है: अन्यथा दूध का अपना कोई बोध नहीं देता। आकाश में चन्द्र है तो आकाश का बोध होता है, वरना आकाश के बारे में सोचने का व्यावहारिक कारण क्या हो सकता है! सारा ज्ञान अर्थ की अभिव्यक्ति पर ही आधारित है, बिना अर्थ के कोई ज्ञान संभव नहीं। इन्होंने आप्त वचन को प्रमाण मानने के लिए 'श्रुतज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है! ये आचार्य वसुबंधु के समकालीन थे जो प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य थे। जैन मानते हैं कि जीव और आत्मा पिता – पुत्र की तरह भिन्न हैं।

उमास्वाति कहते हैं "गुणपर्यायवत द्रव्य" अर्थात प्रत्येक द्रव्य में गुण होता है, और एक या एक से अधिक उपयोगिताएँ होती हैं: जैसे अग्नि का स्वाभाविक गुण ऊष्मा है, और आगंतुक गुण प्रकाश; जैसे आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है और आगंतुक पर्याय हैं इच्छा, क्रिया, संकल्प। प्रत्येक वस्तु की दो अवस्थाएँ हैं: भाव और द्रव्य। भाव अवस्था में शरीर आत्मा है, और द्रव्य अवस्था में आत्मा शरीर है। अदृश्य या अव्यक्त अवस्था में जीव आत्मा है, और वही आत्मा अपनी व्यक्त अवस्था में कभी हाथी तो कभी मानव है। इस तरह संसार में सभी पदार्थ बारी - बारी से भाव और द्रव्य अवस्था में आते-जाते रहते हैं!

मल्लिषेण : इनकी प्रमुख रचनाओं में सरस्वतीकल्प, ज्वालिनीकल्प और कामचांडालिनीकल्प हैं। इन नामों से स्पष्ट है कि इन्होंने उपासना पद्धति और तांत्रिक पद्धति पर प्रकाश डाला होगा। जैन समुदाय में श्री विद्या का भी बहुत प्रचार देखने में आता है।

जैन दर्शन यह भी कहता है कि प्रत्येक वस्तु के दो रूप हैं: स्वभाव और विभाव। स्वभाव कि जो स्वयं ही सिद्ध हो, जैसे सजीव आत्मा और निर्जीव पुद्गल; विभाव

वह कि जो दूसरे से प्रभावित हो कर बने: जैसे आत्मा के आधार पर शरीर, और पुद्गल (मिट्टी) के आधार पर घड़ा। इस तरह प्रत्येक विभाव की उत्पत्ति होती है और विनाश भी। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वे अनित्य स्थिति में होते हैं। पुद्गल में वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की तन्मात्राएँ हो सकती हैं, और उसे व्यक्त रूप में सूंघा, छुआ, चखा और देखा जा सकता है। इसे परमाणु भी कहा जाता है, जब यह मूर्त रूप में हो तो इसे स्कन्ध कहते हैं, और अमूर्त रूप में परमाणु।

प्रत्येक वस्तु को भाव रूप और पर्याय रूप में देखना ही सम्यक दर्शन है। संसार, भाव रूप में एक है; लेकिन पर्याय रूप में अनेक; संसार भाव रूप में नित्य है लेकिन जगत के रूप में अनित्य; और आत्मा भाव रूप में एक है, लेकिन अपने पर्याय रूप में अनेक शरीर में है।

## अनेकांतवाद/ नय वाद/ स्यात वाद

जैन दर्शन विशेष रूप से अनेकांतवाद का पक्षधर है क्योंकि व्यवहार में इसी के आधार पर वितंडा से दूर रहा जा सकता है! अंधे मनुष्यों द्वारा हाथी के वर्णन की कथा नय के साथ जुड़ी है, जिसमें सब अपना-अपना सत्य तो कहते हैं पर कोई भी सर्वथा सच नहीं कह रहा होता। नय किसी भी वस्तु की बनावट से भी जुड़ा है। यदि कोई एक साइकिल को तोड़ कर फिर बनाए तो क्या वो साइकिल वही कहलाएगी या दूसरी; कई कंप्यूटर पहले खोल दिये जाएँ और उनके पुर्ज़े आपस में बदलकर फिर दस कंप्यूटर बना दिये जाएँ तो क्या वे वही कंप्यूटर कहलाएंगे या भिन्न? ऐसे कई व्यावहारिक प्रश्नों पर इस तरह अनेकांतवाद की दृष्टि से चिंतन किया जा सकता है। यह दर्शन कहता है कि सूर्य चन्द्र जैसे निर्विवाद प्रमाणों को छोड़ कर संसार की प्रत्येक वस्तु के व्यावहारिक धर्म एक से अधिक ही होते हैं, और जो किसी एक को दीखता हो वही अंतिम सत्य हो, यह आवश्यक नहीं है ("अनंत धर्मात्मकम सत")। यह 'ही' का न होकर, 'भी' का दृष्टिकोण है।

जैन अभिगम है कि तीन प्रकार के पदार्थ हैं : गम्य, अगम्य, और अज्ञेय। अगम्य को ज्ञान से गम्य में बदला जा सकता है मगर अज्ञेय को आत्मा के स्तर पर ही अनुभव किया जा सकता है। सब कुछ कह पाना अशक्य है। आत्मा अज्ञेय है। कई तथ्य ऐसे हैं जो वर्णनातीत हैं : जैसे शक्कर वर्णनातीत है, लेकिन वह अज्ञेय नहीं। शक्कर पर बड़ी पुस्तक लिखकर भी उसका स्वाद दर्शाया नहीं जा सकता, मगर चखने पर सारा मामला एक क्षण में स्पष्ट हो जाता है।

नय उसे कहते हैं जो सापेक्ष रूप से या आंशिक रूप से प्रमाणित हो (सूर्य या चंद्रमा जैसे सर्वथा प्रमाणित और निर्विवाद विषय पर अनेकांतवाद लागू नहीं होता)। स्याद्वाद से आरंभ नहीं किया जाता बल्कि पूरी जानकारी लेने के बाद, जो विमर्श हो, उस में इसका उपयोग किया जाता है। नय एक तरह से निर्णय लेने वाले के लिए परामर्श है कि क्या सही माना जाए और क्या-क्या सही हो सकता है! नय को सप्तभंगी नय भी कहते हैं क्योंकि किसी भी व्यावहारिक विषय के सात दृष्टिकोण होते हैं:-

यह घट है

यह घट नहीं है

यह घट है और नहीं भी (यह घट मेरा नहीं है, लाल नहीं है)

यह घट वर्णनातीत है (घट जैसा तो है पर अलग आकार का है)

यह घट है, पर वर्णनातीत है (मिट्टी ही है)

यह घट नहीं है पर वर्णनातीत है (न जाने किस धातु का हो!)

यह घट है, नहीं है और वर्णनातीत है (साकार है, मिट्टी भी है, पर है क्या!)

जैसे एक ही व्यक्ति किसी का पुत्र तो किसी का पिता है, वैसे ही कोई भी वस्तु अलग-अलग व्यक्ति के लिए अलग-अलग समय में भिन्न रूप में प्रस्तुत होती है। यही स्याद्वाद का सिद्धान्त है। टेबल में बढ़ई को लकड़ी दिखती है, कलाकार को उसमें लगी नक्काशी दिखाई देती है, और विद्यार्थी को पढ़ने की सुविधा का विचार आता है! 'कपड़ा छोटा हो गया है' का अर्थ होता है कि पहनने वाला बड़ा हो गया है; 'जोधपुर आ गया है' का अर्थ होता है कि किसी वाहन से कोई जोधपुर पहुँच चुका है; 'दूध का गिलास है' का अर्थ होता है कि गिलास में दूध रखा हुआ है; 'ये नोट मेरी है' का तात्पर्य है कि ये 100 रुपये का धन मेरा है! इस तरह व्यवहार में एक ही बात के अनेक अर्थ हो सकते हैं, और ऐसे में नय की उपयोगिता है। कंप्यूटर विज्ञान सात में से पहले दो नय/पहलू पर आधारित है (है और नहीं) फिर भी ज्ञान का इतना विकास हो सका है, अब यह कल्पना का ही विषय है कि जिस दिन कंप्यूटर इस सप्तभंगी नय के अन्य पहलू भी समाहित कर लेगा तो कैसी भव्य क्रान्ति संभव हो सकेगी!

आचार्य शंकर ने इस अनेकांतवाद की व्यावहारिक उपयोगिता को ही स्वीकार किया है ताकि यह निर्णय हो कि कौन - सी वस्तु किस दिशा या दशा में अवस्थित है। उन्होंने इसे संशय पर आधारित कह कर अनिश्चिततावाद कहा है। जैन कहते हैं कि आचार्य शंकर ने इसे संशय समझ लिया है जो ठीक नहीं, हम त्रिकोण को चतुर्भुज या सूर्य को चन्द्र नहीं कहते। स्याद्वाद संशय नहीं, अनेक अर्थ पर विचार करने का नाम है, जिसमें प्रत्येक पहलू का सम्मान है।

जैन दर्शन कहता है कि सम्यक ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है; और इस मार्ग पर तप, त्याग, अहिंसा, अचौर्य, आवश्यक हैं। वास्तविक सुख वही है जो प्रत्येक अवस्था में केवल सुख दे, और वास्तविक दुख वह है जिसका आरंभ और अंत दोनों दुख में हो। इसलिए एकांत सेवन करते हुए सम्यक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

जैन दर्शन में कई बार बहुत कठिन और दुखदायी तप का उल्लेख है जो प्रकटत: अकारण लगते हैं, लेकिन ऐसा है नहीं। उणोदरी जैसे कठिन तप से शरीर के सभी अंगों की क्षमताओं में पहले समानता लाई जाती है: किसी के हाथ मजबूत थे तो ऐसे तप के बाद, वह अतिरिक्त बल शेष सभी अंगों की औसत क्षमता तक आ जाता है। यूं शरीर और मन में एकसूत्रता उत्पन्न की जाती है। कठिन तप से सारी चेतना, सभी अंग-उपांग से सारी जीवन-शक्ति, एक ही दिशा में प्रवाहित होने लगती है। साधक को इस सूक्ष्म प्रक्रिया का साक्षात ऐसे व्यक्तिगत तप द्वारा ही हो सकता है।

## बौद्ध दर्शन

भगवान बुद्ध का जन्म भगवान महावीर के कुछ वर्ष बाद ईसा पूर्व 535 में हुआ था। उन्होंने कहा कि जीवन को ऐसे जीओ कि स्वयं ही एक दीपक बन जाओ ("अप्प दीपो भव"); इस तरह व्यक्तिगत रूप से त्याग और तप का उपदेश किया। समाज के स्तर पर उन्होंने बहुजनहिताय कार्य करने को कहा। इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है कि तत्कालीन राजाओं के प्रशासन में बहुत कमियाँ थीं, फलत: जब गौतम बुद्ध समाज में गए तो उन्हें पग-पग पर रोग, दारिद्र्य आदि दुखों का प्रत्यक्ष हुआ। अत: भगवान बुद्ध ने जीवन पद्धति ऐसी रखने को कहा कि किसी को भी कोई दुख न पहुंचे – कहा कि यही उपाय है पुनर्जन्म को मिटाने का। तथागत ने सारा उपदेश स्थानिक भाषा में दिया जो सभी की समझ में आता गया, और बहुत कम समय में अत्यंत पुराने वैदिक धर्म पर छा गया।

बुद्ध ने बहुत सटीक प्रश्न उठाए कि अगर वह पशु स्वर्ग में जाता है जिस की बलि दी जाये, तो फिर अग्रगण्य मनुष्यों को क्यूँ न स्वर्ग भेज दिया जाए? अगर ब्राह्मण को दंड नहीं दिया जा सकता तो शूद्र के किसी अच्छे कार्य के लिए उसे सम्मानित करने में क्या संकोच है? तत्कालीन समाज पर ऐसे प्रश्नों ने सुधारात्मक प्रभाव डाला। उन्होंने अच्छे कर्म पर भार दिया क्योंकि ईश्वर भी नीम के बीज से केले नहीं उगा सकता। उन्होंने कर्म-कारण को ही महत्व दिया है – कर्म की सच्चे अर्थ में निवृत्ति ही निर्वाण देती है। उनके उपदेश सुधारवादी तो हैं और व्यवस्था में ऐसे सुधार की बातें तत्कालीन राजाओं के लिए लगती हैं, मगर आज उन उपदेशों का यह अर्थघटन किया जा रहा है कि वे ब्राहमणों से असंतुष्ट थे। मुझे यह अर्थघटन सत्य नहीं लगता क्यूंकि किसी भी चीनी यात्री ने ब्राह्मणों के या वर्णव्यवस्था के दोष अपनी यात्रा के वृत्तांत में नहीं लिखे!

बुद्ध ने हमें अनित्यवाद दिया (जिसे क्षणिकवाद भी कहते हैं), और कहा कि संसार नित्य परिवर्तित हो रहा है। ईश्वर, कर्म, वेद, ब्रह्मांड, पुनर्जन्म और आत्मा की

नित्यता जैसे क्लिष्ट विषयों पर बहस कर के समय नष्ट करने से अच्छा है कि उन विषयों पर ध्यान दिया जाए जो जीवन को दुख से मुक्त करें। यह कहा कि वैसी बौद्धिक प्रतिस्पर्धा का कोई उपयोग नहीं। दुख से भागो मत, उसका सामना और निवारण करो। दुख निवारण के लिए उन्होंने पंचशील कहे जो आज भी भारत के राजधर्म के आधार है: अहिंसा, अस्तेय, असत्य, सदाचार (व्यसनरहितता आदि) और ब्रह्मचर्य। उनका उपदेश था कि ध्यान और मन की एकाग्रता से ही दुख की पहचान और निवारण हो सकता है। इसके विरुद्ध आचार्य शंकर ने कहा कि ये जो क्षणिकता दिखाई देती है, वह ब्रह्म का विवर्त है (ब्रह्मवाद), और शब्दों के इस फेर के कारण आचार्य शंकर को कई विद्वान 'प्रच्छन्नबौद्ध' कहते हैं।

बुद्ध जीवन से दुखी थे, या जो कुछ उन्होंने महल से निकाल कर देखा तो उस स्थिति को सामान्य लोगों के लिए दुखदाई पाया। उन्होंने कहा कि इस दुख से भागने की बजाए, सुकर्म करना हितकारी है। बुद्ध ने कहा है कि संसार दुखमय है मगर प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। हमारा शरीर भी प्रति पल बदल रहा है, हम जो कल थे – आज नहीं हैं। बुद्ध तो आत्मा पर नहीं बोले लेकिन हेमचन्द्राचार्य ने आत्मा की अमरता का समर्थन करते हुए यह तर्क दिया कि शरीरस्थ आत्मा नित्य ही है, जो शरीर के प्रति क्षण बदलते रहने के बावजूद, भूतकाल के सुख-दुख की स्मृतियों को सँजोए रखती है। बुद्ध ने कहा कि इस से पहले हमारा कोई जन्म कहीं हुआ हो यह संभव है, मगर उस पर बहस करना व्यर्थ है। उन्होंने कहा कि सब दुखी ही हैं क्योंकि अंतत: षडायतन (मन और पंचेंद्रिय) दुख ही अनुभव करता है! बुद्ध का निर्वाण यानी आस्रव रूपी तेल के चुक जाने पर जीव रूपी दीपक का बुझ जाना। बुद्ध ने कहा कि सत्कर्म किए जाओ, बहुश: पुनर्जन्म नहीं होगा, पुनर्जन्म पर बहस न करो। बौद्ध दर्शन 75 तत्त्वों को मान्यता देता है, जो त्रिकालजीवी माने जाते हैं।

बुद्ध संसार पर चुप ही रहे, और कहा कि जन्म - मरण के फेरे से मुक्ति पर ही ध्यान दो क्योंकि जन्म – मरण, सत्य और प्रत्यक्ष हैं। चार्वाक शरीर को पुष्ट करते रहते

है, जैन शरीर को गलाते रहते हैं लेकिन बुद्ध ऐसी कोई सलाह नहीं देते – वे मध्यमार्गी हैं, वे विचार प्रधान हैं, और बहुजनहिताय कर्म की सलाह देते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो बुद्ध ऐसे मध्यमार्गी थे जिन्होंने प्रत्येक कार्य को सम्यक दृष्टि से करने को कहा।

बुद्ध के अनुसार, ईश्वर का कोई स्थान ही नहीं है, सब कुछ अपने आप चल रहा है और सब कुछ नियमबद्ध है। उन्होंने कहा कि ईश्वर होता तो बुराई को रहने ही क्यूँ देता? इसलिए इस पर चिंतन छोड़ो और ज्ञान से कर्मों की निवृत्ति करो। अगर कर्म रूपी बीज ही न रहेगा तो जगत रूपी कारण भी अपने-आप मिट जाएगा! बौद्ध दर्शन एक निर्गुण दर्शन है, लेकिन लोगों ने उनकी मूर्ति बना कर उन्हें ही भगवान घोषित कर दिया!

गौतम बुद्ध के निर्वाण के 40 वर्ष बाद कुशीनगर में प्रथम संगीति हुई जिसमें 500 भिक्षुओं ने भाग लिया। दूसरी संगीति 100 वर्ष बाद वैशाली में हुई जिसमें 700 भिक्षु आए और त्रिपिटक का सम्पादन किया गया। तीसरी संगीति सम्राट अशोक ने 1000 भिक्षुओं को निमंत्रित कर के आयोजित की - जिसके बाद बौद्ध शिष्ट मण्डल प्रचार हेतु अलग-अलग देशों में भेजे गए। इस समय तक सारा साहित्य पाली भाषा में था। चौथी और अंतिम संगीति सम्राट कनिष्क ने 100 ईसा में बुलाई जिस के बाद बौद्ध ग्रन्थों को संस्कृत भाषा में लिखने की शुरुआत हुई।

दूसरी संगीति के समय ही बुद्ध के कट्टर (व्यक्तिवादी) शिष्यों ने स्थविरवाद (हीनयान) बनाया, और उदारवादियों ने महायान (महासाङ्घिक) पथ बनाया। फिर ये बंटते ही चले गए।

चौथी संगीति में महायान वालों ने बुद्ध को भगवान घोषित कर दिया, और भारत में आज उन्हें विष्णु का अवतार माना जाता है। इस विचारधारा में आज चीन, जापान में बुद्ध की पूजा, मूर्ति के रूप में होती है। महायान में योग को बोधि कहा

गया है, और कालांतर में इस में तंत्र की पद्धतियाँ (वज्रयान) भी आ गई हैं। विद्वान वसुबंधु ने विज्ञानवाद या शून्यवाद का प्रचार 300 ईसा में किया।

त्रिपिटक में तीन ग्रंथ हैं विनयपिटक (नियमावली), सुत्तपिटक (उपदेश) और अभिधम्मपिटक (मनोवैज्ञानिक तथ्य)। इन तीनों के बाद जो साहित्य पाली में लिखा गया उस पूरे साहित्य को अनुपिटक कहा गया है। बौद्ध दर्शन के प्रमुख ग्रंथकार अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबंधु आदि सभी ब्राह्मण थे।

नागार्जुन ने जो शून्यवाद दिया वह कहता है कि प्रत्येक वस्तु अपने वर्त्तमान रूप के लिए किसी न किसी पर आश्रित है, और इस के लिए कोई न कोई कारण होता है। यूं हर वस्तु पराश्रित है और प्रतिक्षण रूप बादल रही है; अत: उसके कर्ता, कारण और फल के विषय में सोचना निरर्थक है। नागार्जुन भी आत्मा के बारे में मौन रहे हैं।

महायान के विपरीत, हीनयान का सारा साहित्य पाली भाषा में है और जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण (बुझ जाना) माना जाता है। निर्वाण प्राप्त करने वालों को अर्हत कहा जाता है – जो क्रियाओं से विमुख होने का अभ्यास करते हैं।

तथागत की व्यक्तिवादी विचारधारा श्रीलंका, ब्रहमदेश में फैली, और समष्टिगत शाखा कई राजवंशों ने अपनाई जैसे कि चीन, जापान, नेपाल, तिब्बत। ईसा पूर्व 275 में सम्राट अशोक ने इसे राजधर्म घोषित किया, और सम्राट कनिष्क ने भी 78 ईसा में इसे और बल दिया। गुप्त वंश में वैष्णव विचारधारा प्रधान थी फिर भी उन्होंने 500 ईसा में नालंदा विश्वविद्यालय में बौद्ध विचारों का सम्मान किया।

जैन और बौद्ध दर्शनों के प्रचार के कारण वैदिक धर्म और ब्राह्मणों का प्रभुत्व कम हुआ, पूजा और कर्मकांडों में पशु-बलि में कमी आई, समाज के प्रत्येक क्षेत्र में सभी वर्गों की प्रतिभागिता बढ़ी। जात-पात, अस्पृश्यता आदि कुरीतियाँ अगर थीं, तो वो कम हुईं, हालांकि किसी चीनी यात्री ने ऐसे कुरीतियों का कोई सटीक

उल्लेख नहीं किया! परिणामत: समानता का प्रचार हुआ, और बौद्ध धर्म भारत के आस-पास के देशों में फैलता चला गया।

बौद्ध धर्म टूटने तब लगा जब मठों में सम्मिलित भिक्षुणियों के कारण व्यभिचार बढ़ा और मठाधीशों का व्यवहार राजसी हो गया। यह भी सत्य है कि तत्कालीन राजाओं ने जब युद्ध में होने वाली हिंसा के कारण म्लेच्छों से युद्ध करने में अनिच्छा प्रकट की तो भारत की सीमाएं कटने का आरंभ भी वहीं से हुआ।

## यहूदी धर्म

इसका मुख्य ग्रंथ है ओल्ड टेस्टामेंट या तनाख। तनाख में मूसा की पाँच पुस्तकें समाहित हैं। ये पुस्तक कहती है कि ईश्वर ने ईसा से 4004 वर्ष पूर्व एक सप्ताह में इस सृष्टि का निर्माण किया, (चौथे दिन सूर्य बनाया, छठे दिन दुनिया बनाई) और सातवें दिन ईश्वर ने अपने जैसा दिखने वाला मनुष्य 'आदम' बनाया! फिर उसके नाक में अपनी फूँक से उसे जीवित कर दिया! तत्पश्चात उसकी पसली से उसके लिए ईव नामक एक महिला को बनाया। यहाँ प्रश्न पूछना ठीक नहीं माना जाता कि जब सूर्य था ही नहीं, तो उससे पहले, तीन दिन हुए कैसे! स्त्री को पुरुष के बाद क्यूँ बनाया गया? अगर ईव को आदम की पसली से बनाया तो शेरनी या गाय इत्यादि मादाओं को कैसे बनाया? केवल आदम को ही सांकल्पिक रूप से उत्पन्न किया कि समस्त प्राणी जगत को? अस्तु।

कहते हैं, एक दिन ये युगल माया में उलझ कर संभोग कर बैठा (ओरिजिनल सिन या महापाप)! बस, ईश्वर ने इसे अक्षम्य पाप मान लिया, और आदम को फरिश्ते के दर्जे से बेदखल कर दिया! खैर, इनसे जो सृष्टि/व्यक्ति पैदा हुए उन का कोई दोष न होने पर भी, उन सभी को पापी मान लिया गया! क्यूँ - यह भी नहीं पूछा जा सकता!

एक दिन प्रभु ने पैदा हो रहे इन पापी मानवों से हट के अब्राहम नामक एक मसीहा को पृथ्वी पर भेजा, और उसे कनान (आज का इस्राइल) का राज देते हुए शर्त (कोवेनन्ट) रखी कि इस राज्य के बदले में उसे और उसके संतानों को अपने लिंग के अग्र भाग की चमड़ी कटवाते रहना होगा! इस शर्त का औचित्य अभी तक ज्ञात नहीं! अब्राहम के वंशज कनान में ईसा पूर्व 2000 वर्षों से रहते थे लेकिन जब उनके जेकब ने एक पूरी रात ईश्वर से युद्ध किया (ईश्वर को युद्ध की क्या आवश्यकता थी?), और जीवित रहा -

तो उस पूरे प्रांत का नाम ही बादल कर इस्राइल रखा दिया गया। इब्रानी या हिब्रू भाषा में इस्राइल शब्द का अर्थ होता है महाशक्तिशाली।

अब्राहम का परिवार चलते-चलते इजिप्त पहुंचा, जहां (भारत की सीमाओं के प्रभाव से) बहुदेववादी प्रथा थी। अब्राहम के वंशजों ने वहाँ एकेश्वरवाद का प्रचार किया, और मानो मसीहाओं की परंपरा का आरंभ हो गया। इनका दावा था कि इनके देवता अपने भक्तों से बात भी करते थे। मूसा इजिप्त के पहाड़ तोरा पर गए (जिसे मुस्लिम कोहे - तूर कहते हैं), और जब लौटे तो उन्हें 613 दिव्य आदेश प्राप्त हो चुके थे, जिन में से 10 मुख्य माने जाते हैं। कहते हैं जब मूसा पहाड़ से लौटे तो प्लेग की महामारी फैली हुई थी, और अधिकांश लोग मर गए थे।

ईसा पूर्व 900 वर्ष के आस-पास इस्राइल में डेविड नामक एक राजा था जिस ने ओल्ड टेस्टामेंट को लिपिबद्ध करवाया। कहते हैं कि इसके बाद इजिप्त आदि देशों में बहुदेववाद का अंत हुआ।

जब पहले-पहल यहूदियों के 12 कुनबे बने थे, उन्होंने प्रार्थना की थी कि उन्हें कोई उत्तम राजा मिले, परिणाम हुआ कि तभी राजा सोलोमन सामने आया, जिस ने यहूदियों का मंदिर जेरूसलेम में बनाया। यह मंदिर आज भी उनका पवित्रतम स्थान माना जाता है। ईसा पूर्व 700 में सीरिया ने यहूदियों को पराजित किया। उनके केवल 2 ही कुनबे बचे - जो जुड़ा नामक व्यक्ति के अनुयायी थे। जुड़ा के वंशज ही आज के यहूदी हैं – ये जुड़ाइस्म को मानते हैं, और अलग-अलग देशों में रहते हैं। इसके 100 साल बाद यानी ईसा पूर्व 600 में बेबीलोन के राजा ने यहूदियों को फिर पराजित किया, और गुलाम बनाकर बेचने लगे; फारस के राजा सायरस ने न केवल यहूदियों को उन्हें बचाया बल्कि आज़ाद भी कराया। ईसा पूर्व 70 में टाइटस नामक रोमन राजा ने यहूदियों को बहुत बुरी तरह से पराजित

किया, और उनके यरूशलम स्थित मंदिर को तीन दिशाओं से तोड़ कर बुरी तरह जला दिया। जो यहूदी स्त्री–पुरुष बच गए उन्हें मार डाला गया। इस दिवस को आज यहूदी Day of Destruction कहते हैं। यहूदियों की आकांक्षा है कि कभी वहाँ बृहद इस्राइल नामक देश बनाया जाए, और उस मंदिर का जीर्णोद्धार करके, उसमें  पशुबलि दी जाए। ये कैसे इतिहासकार हैं जो भारत के संदर्भ में पशुबलि को घोर अपराध मानते हैं, लेकिन बावजूद उच्च शिक्षा के अन्य धार्मिक कार्यों में पशुबलि का समर्थन करते है!

यहूदी मानते हैं कि मृत्यु के बाद किसी दिन आदमी जीवित किए जाएंगे, इसलिए वे टूटे हाथ–पैर के साथ ही शव को दफनाते हैं; जब कि वहाँ के क्रिश्चियन कहते हैं कि आत्मा अपने पूर्वजों के पास चली जाती है।

अब्राहम की 10 वीं पीढ़ी पर नूह हुए जिन्होंने प्रलय जैसे समय में सभी प्रजाति के नर-मादा को एक बड़ी नाव पर ले लिया, फलस्वरूप वे प्रजातियाँ आज पनपी हुई हैं। यह भी कोई ऐतिहासिक या तर्कसंगत घटना प्रतीत नहीं होती।

ईश्वर ने देखा कि सारी व्यवस्था विकृत होती जा रही है क्योंकि मानव 'ओरिजिनल सीन' (संभोग) का परिणाम है तो उस ने अक्षत-योनि मरियम के शरीर से एक बालक उत्पन्न किया ताकि वह विश्व में किसी भी पाप से अछूता सिद्ध हो – इस तरह ईसा जन्मे। इनका  काम था सारे पापों का प्रायश्चित करना। यहूदी उन्हें अपना मसीहा इसलिए नहीं मानते क्योंकि मसीहा को कभी सूली पे चढ़ाया ही नहीं जा सकता। मुस्लिम भी इसी आधार पर ईसा को पैग़ंबर नहीं मानते! लेकिन क्रिश्चन मानते हैं कि ईसा एक मसीहा होते हुए भी सूली पर मृत्यु को प्राप्त हुए। साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि शुक्रवार को सूली देने के बाद जब उनकी माता उनके शरीर को एक

**गुफा में रखवा आई, तो वहां से उनका शरीर रविवार को ग़ायब पाया गया (इस त्योहार को रिसरक्षन कहते हैं और)! इसी उपलक्ष में ईस्टर त्योहार मनाया जाता है। यहाँ तक कहा जाता है कि ईसा ने सोमवार को अपने शिष्यों के साथ रात्रि का भोजन करके उन्हें आज्ञा दी थी कि वे दुनिया भर में एक हाथ में पुस्तक (बाइबल) और दूसरे हाथ में औषधि लेकर मानवता की सेवा करें।**

## न्यू टेस्टामेंट

अपने जन्म के चौथे से लेकर तीसवें वर्ष तक ईसा कहाँ रहे इसकी कोई ठीक–ठीक जानकारी कहीं उपलब्ध नहीं है, लेकिन एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियन में लिखा है कि संभवत: वे इस दरम्यान काश्मीर में बौद्धों के साथ रहे थे। यही कारण था कि लौटने पर उन्होंने दया, क्षमा और प्रायश्चित का प्रचार किया। ऐसी बातें उनसे पहले किसी ने उस प्रदेश में कभी नहीं कही थी! उन्होंने लौटते ही यहुआ की मूर्ति पर मंदिर में कबूतरों की बलि का खुलकर विरोध किया, उन्होंने कोढ़ियों को ठीक किया और एक मृत व्यक्ति को भी जीवित किया। पूरे समाज को उन्होंने बहुत कम समय में प्रभावित किया!

इस लोकप्रियता के कारण उन पर राजद्रोह का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार करने के आदेश दिये गए। पीटर, पॉल, लूका, मेथ्यू आदि उनके 13 शिष्य उन्हें आश्रय दे रहे थे मगर एक शिष्य, ज्यूडास ने केवल 30 चांदी के सिक्कों के बदले में, ईसा को राजा के हवाले करवा दिया। अत: काँटों का ताज सिर पर रखकर उन्हें शुक्रवार को सूली पर चढ़ा दिया गया! जल्लादों की मदद से मरियम ने उनका शरीर एक गुफा में छुपा दिया कि शायद वे जीवित रह जाएँ! लेकिन उनका शरीर दो दिन बाद उस पवित्र रविवार को वहाँ नहीं था, जिबरील ने मरियम को ये संदेश दिया कि प्रभु ने ईसा को सदेह अपने पास बुला लिया है! कहते हैं कि ईसा सोमवार को

रात्रि भोज पर अपने शिष्यों से मिले, और उन्हें यह आदेश दिया कि वे जा कर विश्व में दया का संदेश फैलाएँ।

ज्यूडास की कमी को पूरा करने के लिए बहुत प्रयास किए गए पर सही व्यक्ति मिल ही न सका। क्रिश्चन समुदाय आज भी 13 के अंक को अशुभ मानते हैं।

ईसा के 600 वर्ष बाद, मुहम्मद ने ये ऐलान किया कि वह पैग़ंबर हैं, और अब कोई पैग़ंबर नहीं आएगा! यरूशलम के उसी मंदिर के स्थान से उनको ईश्वर ने मिलने के लिए बुलाया था! अत: मुस्लिम भी यरूशलम को पवित्र मानते हैं।

मध्य और पश्चिमी एशिया के उस क्षेत्र में खेती के संसाधन न के बराबर होने से गुलामों का व्यापार ही प्रमुख व्यापार माना जाता था। अमीर लोग अफ्रीका जाकर गुलाम खरीदकर लाते, और यूरोप में बेचते। 900 ईसवी में, मक्का, मदीना, बसरा, बग़दाद जैसे बड़े शहर इस दास - व्यापार की बहुत बड़ी मंडी थे। गुलाम का परिवार भी गुलाम ही होता था! ग्रीक और रोमन गुलामों के प्रति क्रूर होते थे!

उन प्रान्तों में तो गुलामों के साथ व्यवहार के लिए नियम भी दिये गए हैं, जिन के उल्लंघन पर मालिक को सज़ा भी हो सकती है! यह सब उस प्रदेश की तत्कालीन दशा का हाल कह जाता है कि कैसी क्रूर मानसिकता रही होगी! ये दास-प्रथा ईसा के 1800 वर्ष बाद यूरोप में वैज्ञानिक प्रगति के बाद टूटी। वहाँ इसके विरुद्ध नियम भी तब बनाए गए जब ईसा के 1900 वर्ष में इंगलेंड ने आफ्रिका को जीत लिया! आज भी प्रकारांतर से यह कुप्रथा मुस्लिम देशों में चल ही रही है। एक अंदाजे से पिछले 600 वर्षों में उस क्षेत्र में लगभग 2 करोड़ व्यक्ति यूरोप और अमेरिका को गुलाम के रूप में बेचे गए! सब ऐतिहासिक तथ्य हैं और इतने पुराने नहीं हैं कि झुठलाए जा सकें। यूरोप और मुस्लिम विद्वानों से अपेक्षा रखी जाए कि वे भारत की टीका करने से पहले अपने समाज की ऐसी ऊंच-नीच, इंसान होकर इन्सानों का व्यापार, पशुबलि जैसी अनेक सांस्कृतिक और सामाजिक घृणास्पद हक़ीक़तों पर एक दृष्टि डाल लिया करें।

## पाश्चात्य चिंतन

ऐसा कहना ठीक न होगा कि सारा का सारा चिंतन भारतीय विद्वान ही कर रहे थे। यह सच है कि भारतीय चिंतन का इतिहास रामायण के लगभग 10000 वर्ष पूर्व तक पहुंचता है, जब कि पश्चिम की चिंतन प्रणाली को देखते हैं, तो दृष्टि सोक्रेटिस से आगे नहीं जा पाती। मगर यह असंभव है कि उनसे पहले ग्रीस और यूनान में वहाँ कोई दार्शनिक न हो! यहाँ हम केवल फलसफे से जुड़े तथ्यों पर एक विहंग की सी दृष्टि करना चाहते हैं ताकि पाठक के सामने एक तुलनात्मक स्थिति उत्पन्न हो सके! ग्रीस और यूनान में ब्रह्मांड के चिंतन के स्थान पर वस्तुओं को तोड़ - तोड़ कर उसकी सूक्ष्मता द्वारा मूल पदार्थ (परमाणु?) के एक होने पर प्रयोग किए गए। वहाँ यंत्र (मशीन) थे। प्रयोगशाला में विभिन्न पदार्थों की सूक्ष्म अवस्था पर प्रयोग होते थे, जब कि भारत के मनीषी परमाणु की परिकल्पना बहुत पहले ही कर चुके थे! पश्चिम की इस परिपाटी का एक बड़ा लाभ विश्व को ये अवश्य मिला कि प्रयोगशाला के निष्कर्ष समाजगत सत्य बन सके; और भारतीय तथ्य या खोज या बोध, या साधना, आज भी अत्यंत व्यक्तिगत बने हुए हैं।

पश्चिम आज भले ही गणतन्त्र के आरंभ का स्थान माना जाता हो लेकिन सत्य यह है कि सिकंदर के आने के समय में लगभग 15 - 16 बड़े गणतन्त्र भारत में थे। प्रजातन्त्र का अर्थ यहाँ यह कि राजा तक आसानी से सुनवाई की प्रणाली थी।

सोक्रेटिस ने कहा है knowledge is virtue (ज्ञान ही श्रेष्ठ गुण है), कितने आश्चर्य की बात है कि उनके इन विचारों को भी राज्य के विरुद्ध माना जा रहा था! उन्होंने अपने शिष्यों को morality (सदाचार) के जो पाठ दिये थे, उसकी सज़ा उन्हें मृत्यु दंड द्वारा दी गई थी। उन्हें कारागार से भगाने की योजना बनी थी जो उन्होंने ये कहकर नकार दी कि अगर ऐसा हुआ तो उनके कहे सत्य को कल कोई मानेगा नहीं! इससे स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ भारत जैसा प्रजातन्त्र नहीं था; यहाँ तो चार्वाक, वेदों को गाली देकर भी सुने जाते थे, और आज भी भारत में दर्शनों के

विरुद्ध सुशिक्षित पुरुषों का संभाषण एक फेशन हो गया है – जब कि ये विषय साधकों का है, सुशिक्षितों का है ही नहीं!

उनके बाद, प्लेटो ने जीवन के चार पक्ष रखे Wisdom (विवेक के अर्थ में), Courage (सदाचार का संकल्प), Behaviour (लोक-व्यवहार, नीति ग्रंथ की तरह), और Justice (न्याय, दंड, राजा के धर्म)। उन्होंने कहा कि इन चार के आधार पर सच्चा ज्ञान पाया जा सकता है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू का सारा जीवन Morality पर केन्द्रित रहा। उन्होंने कहा कि ज्ञानी होकर भी मनुष्य अगर दुराचारी हो तो किसी का क्या भला होगा? यूं चिंतन की धारा अध्यात्म की ओर मुड़ते-मुड़ते राजनीति की दिशा में चली जाती प्रतीत होती है! उन्होंने जीने के नियम दिये ही थे कि यूरोप में Dark Era (लगभग ईसा के 300 वर्ष बाद से 1800 आने तक) का आरंभ हो गया; और सारा का सारा प्रयास इसलिए ठंडा हो गया क्योंकि जो चर्च से हट कर कुछ भी बोलता था, उसे मृत्यु दंड दे दिया जाता था। वो भी कैसा समाज रहा होगा जहां केवल बाइबल का शासन था! अत: ये संभव है कि भारत का ज्ञान और सूर्य-सिद्धान्त जैसा विज्ञान इस 1500 वर्ष लंबे अंधकार में, अरबों के माध्यम से, यूरोप के उन जिज्ञासुओं तक पहुँच गया था - जो अनुसंधित्सु थे; यदि वो यह मान लेते कि ये विद्या उन्होंने अरबी भाषियों से सीखी है, तो उन्हें मौत की सज़ा का डर था। कदाचित उन्हें तब ये पता भी नहीं होगा कि वह मूल ज्ञान भारत से आया है - जहां विमान-विद्या रामायण के युग से थी, आयुध और अस्त्रों की खोज भी अति विकसित थी जैसा कि महाभारत से स्पष्ट है। इन्हीं में युद्ध के समय में की जाने वाली असाधारण शल्यक्रिया (आयुर्वेद) के प्रमाण समाहित थे! उन्हें ये कल्पना भी नहीं होगी कि आयुर्वेद गूढ जैसा विषय, पूर्णत: कविता में लिखा जा सकता है!

समय कुछ ऐसा बदला कि ईसा 1800 के बाद यूरोप में भाप से चलते वाहन, अन्य छापखाना जैसे मशीन इत्यादि ने उनका व्यापारिक महत्व (और अंग्रेज़ी साहित्य और प्रचार द्वारा) अचानक बढ़ा दिया। ईश्वर की कृपा से तत्कालीन यूरोपीय विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने अरस्तू की Morality को याद कर लिया। ऐसा लिखना इसलिए आवश्यक है क्योंकि उन्होंने गुलामों के व्यापार पर तब प्रतिबंध लगाए जबकि इस व्यापार में सबसे अधिक लाभ उनका ही था। इस बदलाव के लिए संसार को उनका धन्यवाद करना ही चाहिए।

## सुख

इस अंधकार युग के बाद, पश्चिम में सुख क्या है इस पर विमर्श होने लगा। बेंथम इस दिशा में पहला प्रखर चिंतक था जिसने मनोभाव (emotion) के स्तर पर सुख पाने के लिए प्रयत्न करने को कहा। उसने कहा कि ऐसा सुखी मनुष्य ही जीवन सार्थक कर पाएगा और वही अच्छे समाज का निर्माता होगा। उसने कहा कि सुख वह है जो लंबे समय तक रहे, और जिसे सांझा भी किया जा सके; अर्थात सुख समाजगत हो! उसका वाक्य था कि “Friendship is the best happiness”.

बेंथम के शिष्य श्री जे एस मिल ने इस चिंतन को आगे बढ़ाया, और कहा कि दीर्घकालीन सुख तो धनसंचय जैसे तरीके से भी हो सकता है जो बांटा भी जा सकता है, लेकिन वह चिरस्थायी नहीं हो सकता। उसने एक निबंध लिखा “Essey on Liberty” जिस के आधार पर आज का समूचा गणतन्त्र और मानव के फंडामेंटल अधिकार के आंदोलन टिके हुए हैं। मिल ने सूत्र दिया “Maximum happiness for maximum number”। यहाँ नंबर शब्द से समुदाय की ओर संकेत है।

एमयूल केंट नामक जर्मन अध्यापक ने Morality से ध्यान हटाकर Goodwill पर कर दिया कि सुख तो चोरों को भी मिलता है लेकिन प्रत्येक सुख का आधार ऐसे सुकर्म हों, जिनसे सब की प्रतिष्ठा और सम्मान बढ़े।

केंट के शिष्य थे हेगल। ये आज के इस नए समाज के गुरु माने जाते हैं। उन्होंने राजधर्म पर भार दिया कि सुख का अंतिम उत्तरदायित्व राजा पर है क्योंकि “God marching on the Earth is State”। ये लगभग वही सुशासन और समाजगत सुख की बात कर रहे हैं जो चाणक्य भी करते हैं; और बृहस्पति भी। उनका उपदेश था कि जो व्यक्ति जहां है वहीं से समाज के लिए सुकार्य करे।

बरतानिया में डेविड हयूम एक विचारक हुए जो कहते थे कि नियम तो हों मगर जो नियम मानवता के विरुद्ध हों उन्हें बदल देना चाहिए! इस लिहाज से कुरान की आयतों पर पुनर्विचार आवश्यक है, और सुना है कि ठेठ इस्लामी देश आवश्यक परिवर्तन करने भी लगे हैं। युग बदलने में समय तो लगता है मगर यही काफी है कि सुधार हो।

नित्शे का उल्लेख आवश्यक है क्योंकि जब वो प्राध्यापक थे तो जर्मनी के 16 टुकड़े कर दिये गए थे। इस पर यह कि सारे युवा इसे ईश्वर की इच्छा समझकर चुप थे! उन्होंने एक दिन एक पुतला बनाया और रास्ते पर उसे पीटने लगे, बोले कि ‘ये ईश्वर है, लो इसे मैंने मार दिया’ अर्थात अब ईश्वर तुम्हें नहीं बचाएगा, अपनी सुरक्षा स्वयं करनी होगी। इस घटना ने जर्मनी को जगा दिया। इनका शिष्य हुआ बिस्मार्क, जिसने जर्मनी को एकीकृत किया। हिटलर ने बिस्मार्क को अपना गुरु माना था।

उपरिलिखित वृत्तांत से हम स्पष्ट देखा पाते हैं कि पश्चिम में जो चिंतन हुआ वह अध्यात्म, साधना, आत्मा, प्रकृति, सौरमंडल की उत्पत्ति, जीवसृष्टि की उत्पत्ति इत्यादि तक आ ही नहीं सका। जॉन वुडरोफ, मेक्स मूलर, पोल ब्रन्टन जैसे विद्वान इसीलिए हम से प्रभावित हैं। पूरे विश्व के लिए अध्यात्म शास्त्र नया विचार है!

## प्राणायाम

प्राणायाम के विषय में सब जानते हैं। अनेक ग्रंथ इस पर उपलब्ध हैं, और अनेक व्यक्ति इस विषय पर प्रशिक्षण देने के लिए उपस्थित हैं। यहाँ मैं उतना ही लिखना चाहता हूँ जितना मुझे काम आया, या कहूँ कि बहुत काम आया।

अध्यात्म में प्रवेश के लिए मेरी दृष्टि में नाडीशोधन के सिवा और कोई उपाय नहीं। कोई पिछले जन्म के तप या किसी औषधि से प्रभावित हो तो बात दूसरी है, वरना प्राणायाम नामक पुरुषार्थ करना ही एक शर्तिया उपाय है। स्त्री – पुरुष के शरीर में अनेक नाड़ियाँ (आध्यात्मिक या सूक्ष्म अर्थ में रक्तवाहिनियाँ) हैं, इनमें मुख्य हैं इडा, पिंगला और सुषुम्णा। इडा नाडी मूलाधार से उठ कर हमारी बाईं नासिका में पूरी होती है, और पिंगला, दाईं नासिका में; और सुषुम्णा इन दोनों के बीच ही है। इडा, पिंगला और सुषुम्णा क्रमश: चन्द्र, सूर्य, और अग्नि का प्रतिनिधित्व करती हैं। इडा और पिंगला नाड़ियों को मूलाधार से आज्ञाचक्र तक जाते हुए करोडरज्जु में अनेक जगह एक-दूसरे का पथ काटना पड़ता है इसलिए इन्हें चित्र में सर्पाकार दिखाया जाता है। ये जहां-जहां दाएँ से बाएँ होती हैं वहाँ–वहाँ चक्र की परिकल्पना अनेक विद्वानों ने प्रस्तुत की है, मुख्य 6 चक्र माने गए हैं, सातवाँ चक्र मनुष्य के मस्तक में है जहां से प्राण, ब्रह्मांड से संवाद कर पाता है। इन चक्रों का उल्लेख किसी भी दर्शन में नहीं है लेकिन साधकों ने अपने अनुभव के आधार पर इनका वर्णन किया है।

## विधि

पहले तीन घंटों तक निराहार रहकर, स्वच्छ अवस्था में शांत वातावरण में करोडरज्जु सीधी रहे ऐसी अवस्था में बैठना है। कुछ देर बाद, दाईं नासिका को बंद करके, एक मिनट में 30 – 40 की गति से बाईं नासिका से श्वास लेना-छोड़ना है। 100 बार होने पर मध्यम गति से गहरा श्वास भरना है (पूरक)। तुरंत मूलाधार

का संकोचन और ठोड़ी को छाती पर हलके से दबाए हुए, जितना सुखपूर्वक हो सके उतना श्वास को भीतर रखना है। इसे कुंभक कहते हैं। जैसे ही घबराहट की आहट होने लगे तो ठोड़ी को पुन: सीधा करके, जितना हो सके उतनी धीमी गति से श्वास को दाईं नासिका से निकालना है (रेचक)। मूलबंध को छोड़ देना है। तुरंत ही दाईं नासिका से 100 बार श्वास लेते - छोड़ते हुए श्वास भरकर (पूरक) उसी तरह मूलाधार और ठोड़ी दबाकर कुंभक करना है; और योग्य समय पर ठोड़ी उठाकर श्वास धीमी गति से बाहर करना है (रेचक)। मूल बंध छोड़ देना है। अब दोनों नासिकाओं से 100 बार श्वास लेना-छोड़ना है, और दोनों नासिकाओं से पूरक करना है, ठोड़ी और मूलाधार बंध करके कुंभक करना है, घबराहट होने पर गर्दन सीधी करके बाईं नासिका से रेचक करना है। मूल बंध छोड़ देना है। इन तीनों को मिलाकर एक भस्त्रिका प्राणायाम कहा जाता है। ऐसे 80 प्राणायाम प्रतिदिन करने की सलाह दी गई है। कुंभक के समय उड्डीयाण बंध का भी बड़ा महत्व है लेकिन बिना अनुभवी गुरु की उपस्थिति में ये बंध, रोग उत्पन्न कर सकता है। इसे न करने पर एक ही नुकसान है कि साधना थोड़ी लंबी चलेगी, और कुछ नहीं। पूरक, कुंभक और रेचक का सही अनुपात 1:4:2 कहा गया है। यदि पूरक 10 सेकंड का किया तो कुंभक 40 सेकंड का करें, और रेचक 20 सेकंड का करें। पूरक यदि एक गायत्री मंत्र का किया हो तो कुंभक और रेचक क्रमश: चार और दो मंत्र का करें। थोड़ा - बहुत अंतर हो तो भी कोई दुष्परिणाम नहीं होते, मगर बलपूर्वक कुंभक कभी न बढ़ाएँ। मेरे विचार में, कम से कम पाँच मिनट का कुंभक सुखपूर्वक होने के पश्चात, योग के क्षेत्र में अपना विनम्र प्रवेश माना जा सकता है। मैं ऐसे एक योगी से प्रत्यक्ष मिला हूँ जो 10 मिनट का कुंभक करते थे, और उनके घर के लोगों को भी उनकी इस महानता की कोई खबर नहीं थी। मेरा अनुभव है कि हमारे आस-पास ही बहुत से गुणी (और सिद्ध?) व्यक्ति हैं मगर हो सकता है कि शायद हमारी दृष्टि में कुछ गड़बड़ हो!

अपने या प्रत्यक्ष देखे अनुभव लिखने में मुझे कोई संकोच नहीं, लेकिन न लिखना इसलिए ठीक होगा क्योंकि उन्हें पढ़ने से किसी साधक के मौलिक अनुभव पर छाया पड़ सकती है। इतना ही लिखना पर्याप्त है कि जैसे मिर्च सब को तीखी, और शर्करा सब को मीठी लगती है; ठीक वैसे ही नाड़ियों का दोष निकल जाने पर, उपरिलिखित प्राणायाम से पतंजलि योग सूत्रों में वर्णित प्रत्याहार, ध्यान इत्यादि का पथ प्रशस्त हो जाता है। जैसे ही यह क्षण आ जाता है, भारतीय दर्शन का औचित्य समझ में आने लगता है। मुझे लगता है, योग के क्षेत्र में अगर आसन – प्राणायाम कि अवधि को दमन-पूर्वक न बढ़ाया जाए तो, किसी देहधारी गुरु की आवश्यकता नहीं है। सीमित अनुभव के आधार पर इतना लिखकर विराम लेता हूँ।

**शेष शुभ।**

## Notes to be made by readers (if any)




HIMANSHURAY H. RAVAL "HAQEER"
Address: B 1001, Satyamev Vista, Off S G Highway,
Near Gota Crossroads, Ahmedabad 382481.
Website: www.himanshuray.weebly.com
Email: himanshurayraval@gmail.com
Mob.No.: 9429 20 20 15


- B.Com. (Mumbai 1978), Ayurved Ratna (Prayag University, 1990).
- Approved Poet (Hindi, under All India Radio Act, 1965) of AIR/ Door Darshan (since 1979) with about 3000 broadcast and telecast. (All India Radio Act, 1965). Having worked with eminent music personalities viz., Hemant Kumar, Manna De, Bhupinder Singh, Suresh Wadkar Dr. Indrani Sen, Pushpa Pagdhare in Hindi/ Urdu; and Hemant Chauhan, Padma Shri Divaliben Bhill, Bankim Pathak etc., in Gujarati; and music directors like Hansaraj Behl, C. Arjun, Sapan Jagmohan and many others.
- 'Pighaltee Barf', published in the year 1981 with preface written by Late Harivanshray Bachchan, Kaifee Azmee and Hasrat Jaipuri. Followed by two more collections viz., Anu-goonj, and Hrudaypatra.
- An accredited music director and singer, having worked particularly for doordarshan, Tara Muzik and many other video channels.
- Published the first audio CD of Rabindra Sangeet in Gujarati and Urdu, supported by GOI. (2012)
- Made Yutakam, the very first Sanskrit Short film in Gujarat, and dedicated to Karl Marx (May 2018).
- Directed 'Tilottama' and 'Chitrarshi' , nominated and awarded, at Dadasaheb Phalke Film Festival (2020 and 2021), respectively. Produced and directed over 20 short Hindi films, including on Prem Chand.
- Attended All India Urdu Mushaira (January 2018).
- Uploaded training programme to promote scientific Integrated Astrology for those who like Saamudrik Shastra. Conducted 4 training programs covering about 100 main anchors and news writes of Gujarati channels to create awareness on correct diction of Gujarati. (June 2017).
- Worked in RBI/ NABARD during June 1979 till October 2012 in different capacities including as Nominee Director on Boards of Coop and Com. Banks. Produced ABHIGAM - a one hour documentary film on benefits of NABARD's programs, which was launched by Hon'ble Shri Keshubhai Patel, the then Chief Minister, Gujarat (2002). Visiting faculty at NICM, NIFT etc., on cooperation & marketing.
- Presented the best alternative to animal milk i.e., Groundnut Milk on 24 April 2002 at Jun-agadh. Since then, many channels and textual media keep covering it to fight malnutrition.
- Languages Known:: Gujarati (Mother tongue), Hindi, English, Urdu, Marathi, and Bangla.


Price Rs.300/-

Koryfi Group
OF MEDIA AND PUBLICATIONS